भगवच्चर्चा

(भाग—१)

[तुलसीदल]



हनुमानप्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८८ से २००१ तक १७,०००
सं० २००३ छठी बार ३,०००
सं० २००७ सातवीं बार ५,०००
कुल २५,०००

मूल्य ॥) आठ आना
सजिल्द ॥।≈) चौदह आना

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरि

विषय-सूची

दूसरे संस्करणका निवेदन

यह तुलसीदलका दूसरा संस्करण है। प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया, इससे प्रतीत हुआ कि पाठकोंको यह पुस्तक प्रीतिकर हुई। इसलिये इस दूसरे संस्करणमे 'गोपी-प्रेम' शीर्षक एक बहुत ही सुन्दर बडा लेख और जोड दिया गया। पृष्ठ-संख्या भी बढाकर २८४ कर दी गयी। इतनेपर भी दाम वही रहने दिये गये। आशा है कि पाठक-पाठिकागण इससे विशेष लाभ उठावेगे।

——प्रकाशक



सातवाँ संस्करण

मित्रों और प्रेमियोंके आग्रहके कारण पुस्तकके विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तुलसीदल तथा लेखककी इसी तरहकी अन्य पुस्तके 'भगवच्चर्चा' के नामसे विभिन्न भागोंके रूपमे प्रकाशित की जा रही हैं।

——प्रकाशक



ब्रज-नव-युवराज



प्यारे यन्त्री !

तेरे बगीचेका यह तुलसीदल तेरी ही प्रेरणासे तेरे ही इस मूर्ख मालीके द्वारा तेरे सुर-मुनि-पूजित चरणकमलोंमें सादर समर्पित है।

—तेरा ही

श्रीहरिः शरणम्

प्रार्थना

मृत्युशील संसारमें अमर कौन है ? चर और अचर सभी तो जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिके चगुलमें फँसे हैं। सुन्दर मकान बना, उसका जन्म हुआ, कुछ समय बाद वह टूटने-फूटने लगा, व्याधियोंसे घिरा, मरम्मत करायी गयी, इलाज हुआ, अच्छा हो गया। ऐसा होते-होते ही वह जीर्ण हो गया, बूढ़ा हो गया, अब मरम्मतसे काम नहीं चलता, दीवारें गिरने लगीं, छत जमीनमें बैठनेको तैयार हो गयी, एक दिन ऐसा आया कि मकान गिर पड़ा, उसकी मृत्यु हो गयी; बस, यही हाल सबका है। मनुष्य चाहता है मुझे अमुक काम पूरा कर लेना है, वह उसे पूरा करनेकी चेष्टामें लगता है। काम पूरा होता है, परन्तु फिर उसमें कुछ कमी मालूम होती है, वह उस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न करता है। कमी पूरी होती है, परन्तु साथ ही दूसरी कमी आगे तैयार मिलती है। सारांश यह कि मनुष्य इस संसारमें चाहे जितनी ऊँची-से-ऊँची सांसारिक स्थितिको प्राप्त कर ले, कुछ-न-कुछ कमी तो रह ही जायगी। संसारमें ऐसी कोई वस्तु या स्थिति है ही नहीं, जो पूर्ण हो; सभी कुछ अपूर्ण है, अपूर्णसे पूर्णता कैसे मिल सकती है ? अपूर्णको पाकर मनुष्य पूर्णकाम कैसे हो सकता है ? परन्तु वह इस तत्त्वको समझता नहीं। अपूर्णसे ही

पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, इसीसे बार-बार कमीका—अभावका अनुभव करता है और दुखी होता है।

विषयान्धकारमें, जरा-व्याधिके भयानक तूफानमें फँसी हुई जीवन-नौका बड़ी ही तेजीके साथ मृत्युरूपी चट्टानसे टकराकर डूबनेके लिये झकोरे खाती प्रबल धारके साथ ही बहती रहती है। यों किसी-न-किसी कमीको पूरी करनेकी चेष्टामें लगे हुए मनुष्यका अशान्त जीवन कमीकी हालतमें ही नष्ट हो जाता है। कमी तो पूरी होती ही नहीं, हाँ, उसे पूरी करनेके प्रयत्नमें जीवनभर अशान्तिरूपी अग्निकी भयावनी लपटोंमें जलना और कामनाकी परवशतामें भाँति भाँतिके पापोंका भार सग्रह करना जरूर होता है, यहाँ जीवनभर जले और अगले जीवनमें जलनेके लिये पापका भारी ईंधन जमा कर लिया। बस, आजके हम मनुष्योंकी जीवनधाराका यही स्वरूप है। पर क्या यही वाञ्छनीय है ? क्या बार-बार मृत्युके मुखका ग्रास बनना ही हमें अभीष्ट है ? यदि नहीं, तो हमलोगोंको शीघ्र सावधान होकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे हम पूर्ण होकर मृत्युके पंजेसे छूट जायँ। हम अमर हो जायँ। इस अमर होनेका उपाय नित्य सत्य सर्वगत पूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त कर लेना है। शास्त्रोंकी सम्मति और संतों-के अनुभवयुक्त वचनोंके अनुसार परमात्मा हमें नित्य प्राप्त है, परन्तु इस नित्यप्राप्त वस्तुमें भी हमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उसे तो दूर करना ही होगा। उसीको दूर करनेके लिये इस पुस्तकके भिन्न-भिन्न निबन्धोंमें कुछ बातें कही गयी हैं। यद्यपि जगत्‌के वर्तमान वायुमण्डलमें इस विषयका विशेष महत्त्व नहीं है, आजकलके उच्छृङ्खल प्रवाहमें बहे हुए अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं जो इसको मूर्खोंकी कल्पना समझकर इसकी कुछ भी परवा नहीं करते, कुछ विचारशील और उच्चशिक्षित कहानेवाले इनसे भी आगे बढ़े हुए

श्रीहरिः शरणम्

प्रार्थना

मृत्युशील संसारमें अमर कौन है ? चर और अचर सभी तो जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिके चंगुलमें फँसे हैं। सुन्दर मकान बना, उसका जन्म हुआ, कुछ समय बाद वह टूटने-फूटने लगा, व्याधियोंसे घिरा, मरम्मत करायी गयी, इलाज हुआ, अच्छा हो गया। ऐसा होते-होते ही वह जीर्ण हो गया, बूढा हो गया, अब मरम्मतसे काम नहीं चलता, दीवारें गिरने लगीं, छत जमीनमें बैठनेको तैयार हो गयी, एक दिन ऐसा आया कि मकान गिर पड़ा, उसकी मृत्यु हो गयी; बस, यही हाल सबका है। मनुष्य चाहता है मुझे अमुक काम पूरा कर लेना है, वह उसे पूरा करनेकी चेष्टामें लगता है। काम पूरा होता है, परन्तु फिर उसमें कुछ कमी मालूम होती है, वह उस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न करता है। कमी पूरी होती है, परन्तु साथ ही दूसरी कमी आगे तैयार मिलती है। साराश यह कि मनुष्य इस संसारमे चाहे जितनी ऊँची-से-ऊँची सांसारिक स्थितिको प्राप्त कर ले, कुछ-न-कुछ कमी तो रह ही जायगी। ससारमें ऐसी कोई वस्तु या स्थिति है ही नहीं, जो पूर्ण हो; सभी कुछ अपूर्ण है, अपूर्णसे पूर्णता कैसे मिल सकती है ? अपूर्णको पाकर मनुष्य पूर्णकाम कैसे हो सकता है ? परन्तु वह इस तत्त्वको समझता नहीं। अपूर्णसे ही

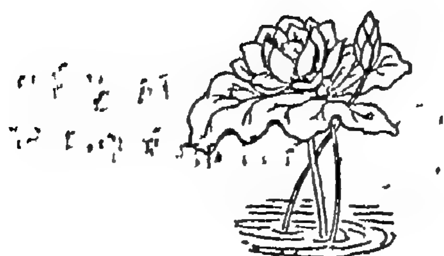
पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, इसीसे बार-बार कमीका—अभावका अनुभव करता है और दुखी होता है।

विषयान्धकारमे, जरा-व्याधिके भयानक तूफानमे फॅसी हुई जीवन-नौका बड़ी ही तेजीके साथ मृत्युरूपी चट्टानसे टकराकर डूबनेके लिये झकोरे खाती प्रबल धारके साथ ही बहती रहती है। यों किसी-न-किसी कमीको पूरी करनेकी चेष्टामें लगे हुए मनुष्यका अशान्त जीवन कमीकी हालतमें ही नष्ट हो जाता है। कमी तो पूरी होती ही नहीं; हॉ, उसे पूरी करनेके प्रयत्नमें जीवनभर अशान्तिरूपी अग्निकी भयावनी लपटोंमें जलना और कामनाकी परवशतामें भॉति-भॉतिके पापोंका भार सग्रह करना जरूर होता है, यहॉ जीवनभर जले और अगले जीवनमें जलनेके लिये पापका भारी ईंधन जमा कर लिया। बस, आजके हम मनुष्योंकी जीवनधाराका यही स्वरूप है। पर क्या यही वाञ्छनीय है? क्या बार-बार मृत्युके मुखका ग्रास बनना ही हमें अभीष्ट है? यदि नहीं, तो हमलोगोंको शीघ्र सावधान होकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे हम पूर्ण होकर मृत्युके पजेसे छूट जायॅ। हम अमर हो जायॅ। इस अमर होनेका उपाय नित्य सत्य सर्वगत पूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त कर लेना है। शास्त्रोंकी सम्मति और सतों-के अनुभवयुक्त वचनोंके अनुसार परमात्मा हमें नित्य प्राप्त है, परन्तु इस नित्यप्राप्त वस्तुमे भी हमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उसे तो दूर करना ही होगा। उसीको दूर करनेके लिये इस पुस्तकके भिन्न-भिन्न निबन्धोंमें कुछ बातें कही गयी हैं। यद्यपि जगत्के वर्तमान वायुमण्डलमें इस विषयका विशेष महत्त्व नहीं है, आजकलके उच्छृङ्खल प्रवाहमें बहे हुए अधिकाश मनुष्य तो ऐसे हैं जो इसको मूर्खोंकी कल्पना समझकर इसकी कुछ भी परवा नहीं करते, कुछ विचारशील और उच्चशिक्षित कहानेवाले इनसे भी आगे बढे हुए

महानुभाव हैं जो परमेश्वर, परलोक या धर्मसम्बन्धी चर्चामात्रको देशके लिये अत्यन्त हानिकर समझकर उसका नामतक मिटा देना चाहते हैं। तथापि ऐसे लोग भी अभी भारतवर्षमे शेष हैं जो इस विषयकी चर्चाको लाभदायक समझते हैं, अथवा कम-से-कम हानिकर तो नहीं समझते। यदि ऐसे सज्जनोमे किसी एककी भी इस पुस्तकके शब्दोंको पढकर परमात्माकी ओर प्रवृत्ति हुई तो मेरे लिये बड़े ही आनन्दका विषय होगा। अवश्य ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस पुस्तकमें जो कुछ लिखा गया है उसमें वस्तुतः मेरा कुछ भी नहीं है। शास्त्र और सतोके वाक्य ही प्रकारान्तरसे उद्धृत किये गये हैं। मेरा यह दृढ विश्वास अवश्य है कि इनके अनुसार चलनेसे सच्चे सुखके अभिलाषी परमार्थ-पथिकको कुछ न-कुछ लाभ अवश्य ही होगा, इसी विश्वासके आधारपर मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि पाठकगण यदि उचित समझें तो कभी-कभी इसके किसी-किसी अंश-को पढ लिया करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

(कल्याण-सम्पादक)



भगवच्चर्चा

(भाग–१)

[तुलसीदल]

भण्डारी सरदारचंदजी जैन बुकसेलर्स
जोधपुर वालों की ओर से सादर भेंट

ॐ श्रीहरि

मधुर-स्वर सुना दो !

प्यारे व्रजेन्द्र-नन्दन ! तुम्हारी विश्व-जन-मन-मोहिनी मुरलीके मधुर-स्वरमे कितनी मादकता है, जिसके कर्णरन्ध्रमें एक बार भी वह स्वर प्रवेश कर जाता है, उसीको तुरत पागल बना देता है। वह फिर ससारके विषय-जन्य मन्द रसोंको विस्मृत कर एक दिव्य रसका आस्वाद पाता है। लज्जा-सकोच, धैर्य-गाम्भीर्य, कुल-मान, लोक-परलोक सभी कुछ भूल जाता है। उसके लिये तुच्छ पार्थिव विलास-रस सम्पूर्णरूपसे विनष्ट होकर एक अपूर्व स्वर्गीय अलौकिक रसका प्रादुर्भाव हो उठता है, उसकी चित्त-वृत्तियोंकी सारी विभिन्न गतियाँ मिट जाती हैं और वे सब-की-सब एक भावसे, एक ही लक्ष्यकी ओर,

एक ही गतिसे प्रवाहित होने लगती हैं। एक ऐसा नशा शरीर-मनपर छा जाता है कि फिर जीवनभर वह कभी उतरता ही नहीं, जब कभी उतरता है तो 'अहम्' को लेकर ही उतरता है। ऐसे ही नशेमें चूर भाग्यवती व्रज-बालाओंने कहा था——

> दूध दुह्यो सीरो पर्‌यो तातो न जमायो वीर,
> जामन दयो सो धर्‌यो धर्‌योई खटायगो।
> आन हाथ आन पाय सबहीके तबहीते,
> जबहीते 'रसखानि' ताननि सुनायगो॥
> ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसी ये तरुनि बारी,
> कहिये कहा री सब व्रज बिललायगो।
> जानिये आली! यह छोहरा जसोमतिको,
> बाँसुरी बजायगो कि विष बगरायगो॥
>
> ——रसखानि

जिस शुभ क्षणमे व्रजमण्डलमे तुम्हारी वंशी बजी, उस क्षण व्रजके प्रेमी जीवोंकी क्या दशा हुई थी, इस बातका मधुरातिमधुर अनुभव उन्हीं सौभाग्यशाली भक्तोंको होता है। हमलोग तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। पर सुनते हैं कि तुम्हारी उस वंशी-ध्वनिने जडको चैतन्य और चैतन्यको जड बना दिया था। सारे कामियोंको विशुद्ध प्रेमी बना दिया था। तुम्हारे मुरली-निनादको सुनकर सांसारिक भोगोंकी सबकी सारी कामनाएँ क्षणभरमें नष्ट हो गयी थीं और संसारके प्रिय-से-प्रिय पदार्थोंको तृणवत त्याग कर सबका

चित्त केवल एक तुम्हारी ओर ही लग गया था। यही तो सच्चा प्रेम है। जब तुम्हारे लिये—तुम्हारे प्रेमके लिये अपने सारे सुख, सारे भोग, सारे आनन्द यहाँतक कि मुक्तितकका त्याग करनेकी तैयारी होती है, तभी तो तुम्हारा प्रेम प्रस्फुटित होता है। फिर संसारमें रहने या उसे त्याग करनेसे कोई मतलब नहीं रह जाता, फिर तो तुम जहाँ जिस तरह रखना और जो कुछ करवाना भी चाहते हो, उसीमें परम सुख मिलता है, क्योंकि फिर जीवनका ध्येय केवल तुम्हारी रुचि और इच्छाका अनुसरण करनामात्र ही रह जाता है। यही तो दशा प्रेमकी है। भोगमें रहकर भोगोंको अपना भोग्य न समझना, संसारमें रहकर संसारको भूल जाना, जगत्‌में रहकर अपने आपको सारे जगत्‌सहित तुम्हारे चरणोंमें अर्पण कर देना, केवल तुम्हारा होकर तुम्हारे लिये ही जीवन धारण करना, और सँपेरेकी पूँगी-ध्वनिपर नाचनेवाले साँपके समान निरन्तर प्रमत्त होकर वंशी-ध्वनि-के पीछे-पीछे अप्रमत्तरूपसे नाचना जिसके जीवनका स्वभाव बन जाता है, वही तो तुम्हारा प्रेमी है। कहते हैं, फिर उसको तुम्हारी वंशी-ध्वनि नित्य सुनायी देती है, क्षण-क्षणमें तुम्हारा मन-मोहन मुरली-स्वर उसे पथ-प्रदर्शककी मसालके समान मार्ग दिखलाया करता है। वे प्रेमी महात्मा धन्य हैं जो तुम्हारे इस प्रकारके प्रेमको प्राप्त कर त्रैलोक्यपावन पदवीपर पहुँच चुके हैं!

हम तो नाथ! इस प्रेम-पाठके अधिकारी नहीं हैं। सुना है कि परम वैराग्यवान् पुरुष ही इस प्रेम-पाठशालामें प्रवेश कर सकते

एक ही गतिसे प्रवाहित होने लगती हैं। एक ऐसा नशा शरीर-मनपर छा जाता है कि फिर जीवनभर वह कभी उतरता ही नहीं, जब कभी उतरता है तो 'अहम्' को लेकर ही उतरता है। ऐसे ही नशेमें चूर भाग्यवती व्रज-बालाओंने कहा था—

दूध दुह्यो सीरो पर्‌यो तातो न जमायो बीर,
जामन दयो सो धर्‌यो धर्‌योई खटायगो।
आन हाथ आन पाय सबहीके तबहीते,
जबहीते 'रसखानि' ताननि सुनायगो॥
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसी ये तरुनि बारी,
कहिये कहा री सब व्रज बिललायगो।
जानिये आली! यह छोहरा जसोमतिको,
बाँसुरी बजायगो कि विष बगरायगो॥

—रसखानि

जिस शुभ क्षणमे व्रजमण्डलमे तुम्हारी वंशी बजी, उस क्षण व्रजके प्रेमी जीवोंकी क्या दशा हुई थी, इस बातका मधुरातिमधुर अनुभव उन्हीं सौभाग्यशाली भक्तोंको होता है। हमलोग तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। पर सुनते हैं कि तुम्हारी उस वशी-ध्वनिने जडको चैतन्य और चैतन्यको जड बना दिया था। सारे कामियोंको विशुद्ध प्रेमी बना दिया था। तुम्हारे मुरली-निनादको सुनकर सांसारिक भोगोंकी सबकी सारी कामनाएँ क्षणभरमें नष्ट हो गयी थीं और संसारके प्रिय-से-प्रिय पदार्थोंको तृणवत् त्याग कर सबका

हैं। नहीं तो, यह प्रेमका पारा फूट निकलता है और सारे शरीर-मनको क्षत-विक्षत कर डालता है। प्रेमका पारा वैराग्यसे ही शुद्ध होता है। वैराग्यके अभावमे तो नीच काम प्रेमके सिंहासनपर बैठकर सारी साधनाओंको नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है! अतएव प्रभो! भोगोमे फँसे हुए, हम संसारी जीव इस दिव्य-प्रेम-लीलाकी बात करनेका दु:साहस कैसे कर सकते हैं। हम तो दीन-हीन-पतित पामर प्राणी हैं। तुम्हारे पतित-पावन स्वरूपपर भरोसा किये दरवाजेपर पड़े हैं, परन्तु नाथ! हममें न प्रेम है, न भक्ति है और न श्रद्धा है। फिर किस मुँहसे तुमसे कहे कि प्रभो! तुम हमारी रक्षा करो। तुम भक्तोंके परम सखा हो, जो जगत्का सारा भरोसा छोडकर केवल तुम्हारी दयापर ही निर्भर करते हैं, उनकी तुम रक्षा करते हो। हम तो संसारासक्त भक्तिविहीन दीन प्राणी हैं। किस साहससे तुमसे उद्धारके लिये प्रार्थना करें? परन्तु नाथ! तुम दीनबन्धु हो, तुम अनाथ-नाथ हो, तुम अकारण ही कृपा करते हो। सुना है कि तुम केवल दुखियों और दुराचारियोंका दया या दमनके द्वारा परित्राण करनेके लिये ही जगत्मे बार-बार अवतार लेते हो। प्रभो! हम-सा दुखी और दुराचारी और कौन होगा? दुखियोंके दु:ख और पतितों-के पातक तुम्हारे सिवा कौन नाश करेगा? तुम्हीं तो अशरणके शरण और अनाथके नाथ हो। तुम्हीं तो अगतिके गति और निर्बल-के बल हो। तुम्हीं तो स्नेहमयी जननीकी भाँति अपनी दुर्गुण सन्तानसे प्यार करनेवाले हो। प्रभो! बताओ, तुम्हें छोडकर इस विपत्तिपङ्कसे निकालनेके लिये किसको पुकारें? ऐसा कौन है जो तुम्हारी तरह बिना ही हेतु दया करता है। प्रभो! हमें इस दु:ख-

सागरसे पार करो, बचाओ ! नाथ ! तुम्हींने पापानलसे सन्तप्त पतित अजामिलको एक ही नामसे प्रसन्न होकर पावन कर दिया था, तुम्हीं-ने जलमें अनाथकी भाँति डूबते हुए गजेन्द्रकी दौड़कर रक्षा की थी और तुम्हींने भरी सभामें विपद्ग्रस्त द्रौपदीकी लाजको बचाया था। इसीसे तो गोसाईंजी कातर-स्वरसे पुकार उठे—

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥
काहि ममता दीनपर, काको पतितपावन नाम।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम॥
रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक-सरि बूड़त करीसहि दई काहु न टेक॥
बिपुल-भूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यो 'प्रभु पाहि'।
सकल समरथ रहे, काहु न बसन दीन्हों ताहि॥
एक मुख क्यों कहौं करुनासिंधुके गुन-गाथ।
भक्तहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ॥
आपसे कहुँ सौंपिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात॥

इसलिये हे दीनबन्धु ! अब तुम अपनी ओर देखकर ही हमें अपनाओ और हे नाथ ! दयाकर एक बार तुम्हारी उस मोहिनी मुरलीका वह उन्मादकारी मधुर-स्वर सुना दो जिसने व्रजवनिताओं-को श्रीकृष्ण-गत-प्राणा बना दिया था !

तेरी हँसी

हे मेरे प्राणाराम राम ! तू बड़ा ही लीलामय है, खूब खेल खेलता है। मनमाना नाच भी नचाता है और अलग बैठा टुकटुक देखता हुआ हँसा भी करता है। यह सृष्टि तेरे हास्यका ही तो विलास है, परन्तु तेरा हँसना नित नये-नये रग लाता है, तेरी एक हँसीमे सृष्टिका उदय होता है, दूसरीमे उसकी स्थिति होती है और तीसरीमें वह तेरे अंदर पुनः विलीन हो जाती है। पर तू तीनों ही अवस्थाओमे हँसता है। इतनी उधेड़-बुन हो जाती है, परन्तु तेरी एकरसी हँसीमे कहीं अन्तर नहीं पड़ता। लोग तेरी हँसीके नाना अर्थ करते हैं, उनका वैसा करना अनुचित भी नहीं है, क्योंकि लोगोंको भिन्न-भिन्न रूप भासते ही हैं। यही तो तेरी हँसीकी विलक्षणता है, इसीमे तो तेरी मौजका अजब नजारा है। किसीका जन्म होता है, तू हँसता है; वह खाता-खेलता और रग-रागमे मस्त रहता है, तू हँसता है, फिर हाथ फैलाकर जब वह सदाके

लिये सो जाता है—क्रन्दनकी करुण-ध्वनिसे दिशाएँ रो उठती हैं, तू तब भी हँसता ही है । तेरी हास्यलीला अनादि और अनन्त है !

लोग तेरे इस हास्यकी थाह लेना चाहते हैं, अपने परिमित और विलास-विभ्रम-ग्रस्त विमोहयुक्त बुद्धिबलसे तेरी हँसीका रहस्य जानना चाहते हैं, यह बुद्धिका सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होते-होते सर्वथा विलुप्त हो जाना नहीं तो क्या है ? जलका जरा-सा नगण्य कण सब ओरसे परिपूर्ण पारावारहीन जल-निधिका अन्त जानना चाहता है, यह असम्भव भावना नहीं तो क्या है ? जबतक वह अलग खडा देखेगा तबतक तो पता लगेगा कैसे ? और कहीं पता लगानेकी लगनमे अदर चला गया तब तो उसकी अलग सत्ता ही नष्ट हो जायगी, फिर पता लगायेगा ही कौन ? जो ढूँढने गया था, वही खो गया ! अतः हे महामहिम मुनि-मन-मोहन मायिक-मुकुट-मणि राम ! मेरी समझसे तो तेरे इस हास्यका मर्म जाननेकी सामर्थ्य जगत्के किसी भी प्राणीमें नहीं है । हाँ, कोई तेरा खास प्रेमी तेरी कृपासे रहस्य समझ पाता होगा, परन्तु उसका समझना-न-समझना हमारे लिये एक-सा है, क्योंकि वह फिर तुझसे अलग रहता ही नहीं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

जो तेरी मधुर मुसकानपर मोहित होकर तेरी ओर दौडता है और तेरे समीप पहुँच जाता है, उसे तो तू अपनी गोदसे कभी नीचे उतारता नहीं, और जो विषय-विमोहित हैं, उनको तेरे रहस्यका पता नहीं ।

आश्चर्य है कि इसपर भी हम तेरी लीलाओंके रहस्योद्घाटनका दम भरते हैं और जो बात हमारी स्थूल बुद्धिमें नहीं जँचती, उसे तेरे लिये भी असम्भव मान बैठते हैं ! हमारी इस बुद्धिपर—हमारे इस बाल-चापल्यपर तुझे दया तो आती ही होगी दयामय !

महर्षि वाल्मीकि, महर्षि वेदव्यास और गोसाईं तुलसीदासजी प्रभृति संतोको धन्य है, जिनकी वाणीसे तूने दयाकर अपनी कुछ लीलाएँ जगत्‌को सुनायीं। तेरी इन लीलाओंके दिव्यालोकसे असख्य प्राणियोंका तमोमय मार्ग प्रकाशित हो उठा, जिसके सहारे वे अनायास ही अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचकर सदाके लिये सुखी हो गये ! परन्तु तेरी ये लीलाएँ हैं बड़ी ही विचित्र, अद्भुत और मोहिनी, बड़े-बड़े तार्किक विद्वानोंकी बुद्धि इनकी मोहकतामे पडकर चकरा जाती है। अवश्य ही जो लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बुद्धिका व्यर्थाभिमान छोड़कर तेरी शरण हो जाते हैं, उनके विवेकचक्षुओके सामनेसे तेरी दुस्तर मायाका आवरण हट जाता है !

नाथ ! अब तो ऐसा कर दे, जिससे प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक समय, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक चेष्टामे तेरी नित्य अनन्त कृपाकी पूर्ण अखण्ड माधुरी मूरतिके दर्शन होते रहें और फिर वह पूर्ण कृपाविग्रह कभी आँखोंसे ओझल हो ही नहीं। सुना है, तेरी हँसीका रहस्य तभी जाना जा सकता है।



प्यारे कन्हैया !

प्यारे कन्हैया ! तेरी ही पलकोंके इशारेपर मुनिमन-मोहिनी महा-माया-नटी थिरक-थिरककर नाच रही है। तेरे ही संकेतसे महान् देव रुद्र अखण्ड ताण्डव नृत्य करते हैं। तुझे ही रिझानेके लिये हाथमें वीणा लिये सदानन्दी नारद मतवाला नाच नाच रहे हैं । तेरी ही प्रसन्नता-के लिये व्यास-वाल्मीकि और शुक-सनकादि घूम-घूमकर और झूम-झूमकर तेरा गुणगान करते हैं ! तेरा रूप तो बड़ा ही अनोखा है, जब तेरी वह रूपमाधुरी खुद तुझीको दीवाना बनाये डालती है तब ज्ञानी-महात्मा, संत-साधु और प्रेमी भक्तोंके उसपर लोक-परलोक निछावर कर देनेमें तो आश्चर्य ही क्या है ? आनन्दका तो तू अनन्त असीम सागर है, तेरे आनन्दके किसी एक क्षुद्र कणको पाकर ही बडे-बडे विद्वान् और तपस्वी लोग अपने जीवनको सार्थक समझते हैं। अहा ! अनिर्वचनीय प्रेमका तो तू अचिन्त्य स्वरूप है। तुझ प्रेम-स्वरूपके एक छोटे-से परमाणुने ही संसारके समस्त जननी-हृदयोंमें, समग्र शुद्ध-प्रेमी-प्रेमिकाओंके अन्तरमें, सम्पूर्ण मित्र-अन्तस्तलोंमें और विश्वके अखिल प्रिय पदार्थोंमें प्रविष्ट होकर जगत्को रसमय बना रक्खा है। ज्ञानका अनन्त स्रोत तो तेरे उन चरणकमलोंके रजकणोंसे प्रवाहित होता है, इसीसे बडे-बडे संत-महात्मा तेरी चरणधूलिके लिये तरसते रहते हैं !

किसमें सामर्थ्य है जो तुझ सर्वथा निर्गुणके अनन्त दिव्य गुणोंकी थाह पावे ? ऐसा कौन शक्तिसम्पन्न है जो तुझ ज्ञानस्वरूप प्रकृतिपर परमात्माके अप्राकृत ज्ञानकी शेष सीमातक पहुँचे ? किसमें ऐसी ताकत है जो तुझ अरूपकी विश्व-विमोहिनी नित्य रूप-छटाका सर्वथा साक्षात्कार करके उसका यथार्थ वर्णन कर सके, कौन ऐसा सच्चा प्रेमी है जो

तुझ अपार अलौकिक प्रेमार्णवमें प्रवेश कर उसके अतल तलमें सदाके लिये डूबे बिना रह जाय ? फिर बता, तेरा वर्णन—तेरे रूप, गुण, ज्ञान और प्रेमका विवेचन कौन करे और कैसे करे ? प्यारे कृष्ण ! बस, तू, तू ही है ! तेरे लिये जो कुछ कहा जाय, वही थोडा है। तेरे रूप, गुण, ज्ञान और प्रेमका दिव्य ध्यान-ज्ञान-जनित अनुभव भी तेरी कृपा बिना तुझ देश-काल-कल्पनातीत अकल कल्याण-निधिके वास्तविक स्वरूपके कल्पित चित्रतक भी पहुँचकर उसका सच्चा वर्णन नहीं कर सकता। फिर अनुभवशून्य कोरी कल्पनाओंकी तो क़ीमत ही क्या है ? वस्तुतः तेरे स्वरूप और गुणोंका मनुष्यकृत महान्-से-महान् वर्णन भी यथार्थ तत्त्वको बतलानेवाला न होनेके कारण, महा-महिमान्वित चक्रवर्ती सम्राट्को तुच्छ ताल्लुकेदार बतलानेके सदृश एक प्रकारसे तेरा अपमान ही है। परन्तु तू दयामय है। तेरे प्रेमी कहा करते हैं कि तू, प्यारे दुलारे नन्हे बच्चोंकी हरकतोंपर कभी नाराज न होकर स्नेहवश सदा प्यार करनेवाली जननीकी भाँति, किसी तरह भी अपना चिन्तन या नाम-गुण ग्रहण करनेवाले लोगोंके प्रति प्रसन्न ही होता है। तू उनपर कभी नाराज होता ही नहीं। बस, इसी तेरे विरदके भरोसेपर मैं भी मनमानी कर रहा हूँ ! पर भूला ! मेरी मनमानी कैसी ? नचानेवाला सूत्रधार तो तू है, मै मनमानी करनेवाला पामर कौन ? तू जो उचित समझे, वही कर ! तेरी लीलामे आनाकानी कौन कर सकता है; पर मेरे प्यारे सॉवलिया ! तुझसे एक प्रार्थना जरूर है। कभी-कभी अपनी मोहिनी मुरलीका मीठा सुर सुना दिया कर और जँचे तो कभी अपनी भुवन-विमोहिनी सौन्दर्य-सुधाकी दो-एक बूँद पिलानेकी दया भी . ...



दिव्य सन्देश

इस समय मनुष्य-जातिकी बुरी दशा हो रही है। पार्थिव प्रलोभनोंकी अधिकतासे अभाव और अशान्तिकी आग भभक उठी है। इसी जड़ भोगविलासकी प्रबलतासे धार्मिक जगत्मे भी अंदर-ही-अदर बड़ा अनर्थ होने लगा है। धर्मके नामपर आज जगत्में दानवी लीलाका जो ताण्डव-नृत्य हो रहा है उसे देखकर कलेजा काँप उठता है। परमात्मापर विश्वास रखकर ससारमे लोकहितार्थ अपना कर्तव्य कर्म करनेवालोंकी सख्या कम हो रही है। परस्पर एक दूसरेका सर्वस्वान्त करनेके लिये जातियाँ और राष्ट्र अपना-अपना दृढ सगठन कर रहे हैं तथा वे अपने सुसगठित साधनोंद्वारा दूसरोंकी स्वाभाविक उन्नतिके मार्गमें रोड़े अटकाकर उन्हें गिराने और पददलित करनेकी घृणित चेष्टा कर रहे हैं। दम्भपूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका विकास हो चला है। विषयासक्ति और कामनाने मनुष्यके ज्ञानको ढककर उसे अपने मनुष्यत्वके पदसे गिरानेका प्रयत्न आरम्भ कर दिया है। सभ्यताकी बाह्य सुन्दरतासे दम्भ, व्यभिचार, मिथ्या अभिमान और हिंसा-प्रतिहिंसा आदि दुर्गुण उत्पन्न और क्रमश उन्नत होकर जगतकी मनुष्य-जातिको आध्यात्मिक आत्महत्या करनेके लिये प्रोत्साहित कर रहे हैं। सर्वव्यापी सर्वप्रिय सर्वमय और सर्वधन परमात्माका आसन छोटा करके उसे एक छोटी-सी सकुचित सीमाके अदर रखनेकी व्यर्थ चेष्टा करके, एक धर्मनामधारी दूसरे प्रतिपक्षी धर्म-नामधारीके उस धर्मके नामका नाश कर अपने धर्मके नामकी निरर्थक उन्नति करना चाहता है।

धर्मके नामपर आज ढोंग और दम्भका पार नहीं रहा है।

परमात्माको, उसके नामको और उसके दिव्य धर्मको भुलाकर जगत् आज ऊपरकी बातोंमें ही लड़ रहा है। इसीलिये न तो आज धर्मकी उन्नति होती है और न कोई सुखका साधन ही दीखता है। लोग समझते हैं कि ईश्वर केवल उनके निर्देश किये हुए स्थान और नियमोंमें ही आबद्ध है, अन्य सब जगह तो उसका अभाव ही है!

ऐसी स्थितिमे मनुष्य-जातिके कल्याणके लिये कुछ ऐसी बातें होनी चाहिये, जिनपर अमल करनेसे सबका कल्याण हो सकता हो। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये निम्नलिखित सात बातें निवेदनके रूपमे सब लोगोंके सम्मुख रक्खी जाती हैं। इनका पालन ईश्वरवादी-मात्र कर सकते हैं और यह जोरके साथ कहा जा सकता है कि इनका पालन करनेसे उनका परम कल्याण होनेमें कोई सन्देह नहीं है।

१–ईश्वरके नामका जप, स्मरण और कीर्तन करना चाहिये।

२–ईश्वरके नामका सहारा लेकर पाप नहीं करना चाहिये। जो लोग ईश्वरके नामकी ओटमें पाप करते हैं वे बडा अपराध करते हैं।

३–(क) ईश्वरके नामका साधन कर उसके बदलेमें संसारके भोगोंकी कामना नहीं करनी चाहिये।

(ख) ईश्वरके नामरूपी धनका उपयोग पापनाशके कार्यमें भी नहीं करना चाहिये।

४–ईश्वरके नामको परम प्रिय मानकर उसका उपयोग उसीके लिये करना चाहिये।

५–दम्भ नहीं करना चाहिये। दम्भसे भगवान् अप्रसन्न होते हैं। दाम्भिककी बुरी गति होती है।

६–सच्चे ईश्वरभक्त, सदाचारपरायण, कर्तव्यशील होनेके लिये गीता-

७—दूसरेके धर्मकी निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिये। ऐसे झगड़ोंसे सच्चे सुखके साधकको बड़ा नुकसान होता है।

अब इन सातों बातोंका अलग-अलग विवेचन किया जाता है——

(१) जगत्के ईश्वरवादीमात्र ईश्वरके नामको मानते हैं। भगवान्के नामसे उसके स्वरूप, गुणसमूह, महिमा, दया और प्रेमकी स्मृति होती है। जैसे सूर्यके उदयमात्रसे जगत्के सारे अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही भगवन्नामके स्मरण और कीर्तनमात्रसे ही समस्त दुर्गुण और पापोंका समूह तत्काल नष्ट हो जाता है। जिनके यहाँ परमात्मा जिस नामसे पुकारा जाता है वे उसी नामको ग्रहण करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं।

(२) परन्तु परमात्माका नाम लेनेमें लोग कई जगह बड़ी भूल कर बैठते हैं। भोगासक्ति और अज्ञानसे उनकी ऐसी समझ हो जाती है कि हम भगवन्नामका साधन करते ही हैं और नामसे पाप-नाश होता ही है, इसलिये पाप करनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यों समझकर वे पापोंका छोड़ना तो दूर रहा, भगवान्के नामकी ओट या उसका सहारा लेकर पाप करने लगते हैं। एक मुकद्दमेबाज एक नाम-प्रेमी भक्तको गवाह बनाकर अदालतमें ले गया, उससे कहा—'देखो, मैं जो कुछ तुमसे कहूँ, न्यायाधीशके पूछनेपर वही बात कह देना।' गवाहने समझा कि यह मुझसे सच्ची ही बात कहनेको कहेगा। पर उसकी बात सुननेपर पता लगा कि वह झूठ कहलाना चाहता है। इससे उसने कहा——'भाई! मैं झूठी गवाही नहीं दूँगा।' मुकद्दमेबाजने कहा——'इसमें आपत्ति ही कौन-सी है? क्या तुम नहीं जानते कि भगवान्के नामसे पापोंका नाश होता है। तुम तो नित्य भगवान्का नाम लेते

ही हो, भक्त हो, जरा-सी झूठसे क्या बिगडेगा ? एक ईश्वरके नाममें पापनाशकी जितनी शक्ति है उतनी मनुष्यमे पाप करनेकी नही है । मै तो काम पड़नेपर यो ही कर लिया करता हूँ ।' उसने कहा—'भाई ! मुझसे यह काम नहीं होगा, तुम करते हो तो तुम्हारी मर्जी !' मतलब यह कि इस प्रकार परमात्माके नाम या उसकी प्रार्थनाके भरोसे जो लोग पापको आश्रय देते हैं वे बडा अपराध करते हैं । वे तो पाप करनेमे भगवान्‌के नामको साधन बनाते हैं, नाम देकर बदलेमे पाप खरीदना चाहते हैं । ऐसे लोगोकी दुर्गति नहीं होगी तो और किसकी होगी ?

(३) (क) कुछ लोग जो ससारके पदार्थोंकी कामनावाले है वे भी बडी भूल करते हैं । वे भगवान्‌का नाम लेकर उसके बदलेमे भगवान्‌से धन-सम्पत्ति, पुत्र-परिवार, मान-बड़ाई आदि चाहते हैं । वास्तवमे वे भी भगवन्नामका माहात्म्य नहीं जानते । जिस भगवन्नामके प्रबल प्रतापसे राजराजेश्वरके अखण्ड राज्यका एकाधिपत्य मिलता हो, उस नामको क्षणभङ्गुर और अनित्य तुच्छ भोगोकी प्राप्तिके कार्यमे खो देना मूर्खता नहीं तो क्या है ? ससारके भोग आने और जानेवाले हैं, सदा ठहरते नहीं । प्रत्येक भोग दुःखमिश्रित है । ऐसे भोगोंके आने-जानेमे वास्तवमे हानि ही क्या है ?

(ख) जो लोग यह समझकर नाम लेते हैं कि इसके लेनेसे हमारे पाप नाश हो जायँगे वे भी विशेष बुद्धिमान् नहीं हैं । क्योंकि पापोंका नाश तो पापोंके फल-भोगसे भी हो सकता है । जिस ईश्वरके नामसे स्वयं प्रियतम परमात्मा प्रसन्न होता है, जो नाम प्रियतमकी प्रीतिका निदर्शन है, उसे पापनाश करनेमे लगाना क्या

भूल नहीं है ? वास्तवमें ऐसा करनेवाले भगवन्नामका पूरा माहात्म्य नहीं जानते, क्या सूर्यको कहना पडता है कि तुम अँधेरेका नाश कर दो । उसके उदय होनेपर तो अन्धकारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता ।

(४) भगवान्का नाम भगवत्प्रेमके लिये ही लेना चाहिये । भगवान् मिलें या न मिलें परन्तु उनके नामकी विस्मृति न हो । प्रेमी अपने प्रेमीके मिलनेसे इतना प्रसन्न नहीं होता जितना उसकी नित्य स्मृतिसे होता है । यदि उसके मिलनसे कहीं उसकी स्मृति छूट जाती हो तो वह यही चाहेगा कि ईश्वर भले ही न मिले परन्तु उसकी स्मृति उत्तरोत्तर बढे, स्मृतिका नाश न हो । यही विशुद्ध प्रेम है ।

(५) नामसाधनमें कहीं कृत्रिमता न आ जाय । वास्तवमें आजकल जगत्मे दिखावटी धर्म 'दम्भ' बहुत बढ गया है । बडे-बडे धर्मके उपदेशक न मालूम किस सासारिक स्वार्थको लेकर कौन-सी बात कहते हैं, इस बातका पता लगाना कठिन हो जाता है । इस दम्भके दोषसे सबको बचना चाहिये । दम्भ कहते हैं बगुलाभक्तिको । अदर जो बात न हो और ऊपरसे मान-बडाई प्राप्त करने या किसी कार्यविशेषकी सिद्धिके लिये दिखलायी जाय वही दम्भ है । दम्भी मनुष्य भगवान्को धोखा देनेका व्यर्थ प्रयत्न कर स्वय बडा धोखा खाता है । भगवान् तो सर्वदर्शी होनेसे धोखा खाते नहीं, वह धूर्त जो जगत्को भुलावेमे डालकर अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है स्वय गिर जाता है । पाप उसके चिरसङ्गी बन जाते हैं । पापोंसे उसकी घृणा निकल जाती है । ऐसे मनुष्यको धर्मका परमतत्त्व, जिसे परमात्माका

मिलन कहते हैं, कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतएव इस भयकर दोषसे सर्वथा बचना चाहिये ।

(६) इन सब बातोंको जानकर ईश्वरका तत्त्व समझने और तदनुसार जगत्‌मे कर्म करनेके लिये राह बतलानेवाला कोई सार्वभौम ग्रन्थ चाहिये या ऐसा कोई उपादेय सिद्ध मार्ग चाहिये जिसपर आरूढ होते ही ठीक-ठिकानेसे अपने लक्ष्यतक पहुँचा जा सके। हिंदुओंकी दृष्टिसे ऐसे चार ग्रन्थोंके नाम बतलाये जा सकते हैं जो कल्याणके मार्गदर्शकका बडा अच्छा काम दे सकते हैं। (१) उपनिषद्, (२) श्रीमद्भगवद्गीता, (३) श्रीमद्भागवत और (४) तुलसीदासजी-का रामचरितमानस । (उपनिषदोंमें प्रधानतः ईश, केन आदि दस उपनिषदोंको समझना चाहिये) ये ऐसे ग्रन्थ हैं कि जो मनुष्यमात्रको असली लक्ष्यतक पहुँचा सकते हैं। उपनिषदोंकी और गीताकी प्रशंसा आज जगत् कर रहा है। पाश्चात्त्य जगत्‌के भी बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ विद्वानोंने उपनिषद् और गीताधर्मको सार्वभौम धर्म माना है । यदि इन चारोंका अध्ययन न हो सके तो इन चारोंमें एक छोटा-सा किन्तु बड़ा ही उपादेय ग्रन्थ गीता है जिसे हम सबके कामकी चीज कह सकते हैं; उसीका अध्ययन करना चाहिये । गीताका अनुवाद अनेक भाषाओंमें हो चुका है। यह सार्वभौम ग्रन्थ है। जिसको किसी ग्रन्थविशेषका अध्ययन न करना हो वह गीताधर्मको ही अपना मार्ग-दर्शक बना सकता है । गीताधर्मका अर्थ संक्षेपमें इन शब्दोंमें किया जा सकता है—

(क) 'सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर भगवत्-

आज्ञानुसार केवल भगवान्‌के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करना तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर, उसके नाम, गुण और प्रभावयुक्त स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ।' अथवा—

(ख) 'सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी तरह अथवा स्वप्नके ससारकी तरह मायामय होनेके कारण मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमे कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर, सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमे एकीभावसे नित्य स्थित रहना । जिसमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीके भी अस्तित्वका भाव न रह जाय ।'

यही गीताका निष्काम कर्मयोग और साख्ययोग है, यही सार्वभौम धर्म है । इसके पालनमें सभी वर्ण और सभी जातियोंका समान अधिकार है ।

(७) किसी दूसरेके धर्मपर किसी प्रकारका आक्षेप न कर ईर्ष्या, वैमनस्य और प्रतिहिंसा आदि कुभावोंको परित्यागकर ससारमें सबको सुख पहुँचाते हुए विचरना चाहिये । जो लोग अपने धर्मको पूर्ण बताकर दूसरेके धर्मकी अपूर्णता सिद्ध करते हैं वे वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते । यदि मैं एक धर्मका विरोध करता हूँ, उस धर्मको भला-बुरा कहता हूँ तो दूसरेके द्वारा मुझे अपने धर्मके लिये भी वैसे ही अपशब्द सुनने पड़ते हैं । इससे मैं उसके साथ ही अपने धर्मका भी अपमान करता हूँ । क्योंकि ऐसा करनेमें मुझे अपने ईश्वरको और धर्मको सर्वव्यापी और सार्वभौम पदकी सीमासे संकुचित करना पड़ता

है। किसी-न-किसी अंशमें सभी धर्मोंमे परमात्माका भाव विद्यमान है, अतएव किसी भी धर्मका तिरस्कार या अपमान करना अपने ही परमात्माका अपमान करना है।

अतएव जो मनुष्य धर्मके नामपर कलह और अशान्तिमूलक परस्परके कटु-विवादोंमे न पड़कर गीताधर्मके अनुसार आचरण करता हुआ दम्भरहित होकर ईश्वरका पवित्र नाम लेता है और उस नामसे पाप करने, भोग प्राप्त करने एव पाप-नाश होनेकी भी कामना नहीं करता, वह बहुत ही शीघ्र काम, क्रोध, असत्य, व्यभिचार और कपट आदि सब दुर्गुणोसे छूटकर अहिंसा, सत्य आदि सात्त्विक गुणोसे सम्पन्न हो जाता है, सासारिक जड़ भोगोसे उसका मन हटकर सर्वदा ईश्वरके चिन्तनमे लग जाता है और इससे वह अपनी भावनाके अनुसार परमात्माके परमतत्त्वका और उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन लाभकर कृतार्थ हो जाता है। परमात्माका नाम ऐसा विलक्षण है कि उसके स्मरण, उच्चारण और श्रवणमात्रसे ही पापोंका नाश होता है। जो लोग स्वय परमात्माका नाम-जप करते है, दूसरोको सुनाते है, कहींपर बैठकर परमात्माके नामका गान करते हैं वे अपने कल्याणके साथ-ही-साथ संसारके अनेक जीवोका बड़ा उपकार करते हैं। इसलिये सबको परमात्माके शुभ नामकी शरण लेकर स्वयं उसका स्मरण, जप और कीर्तन करना चाहिये और दूसरे लोगोंको प्रेमपूर्वक इस महान् कार्यमें लगाना चाहिये।

ते सभाग्या मनुष्येपु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

(भागवत)



शीघ्र चेतो !

जल्दी दौड़ो ! इस मायाके धधकते हुए दावानलसे फौरन बाहर निकलो ! देखो, *अग्निकी प्रलयङ्करी लाल-लाल लपटें लपक-लपककर* जगत्को धडाधड़ ग्रस रही हैं । प्रचण्ड धुएँसे सभी दिशाएँ छा गयी हैं । वह गया, दूसरा भी चला, अरे, तीसरेको भी लपटोंने ले लिया । परन्तु हाय ! तुम मूर्खकी तरह 'किंकर्तव्यविमूढ़' होकर पडे हो । अरे, अबकी तुम्हारी बारी आती है । यदि बचना चाहते हो तो तुरत सबका मोह छोडकर बाहर निकल पडो । देखो ! वह देखो ! उस छलकते हुए अमृतसमुद्रके किनारे विशाल जहाज ठहराये उसका कृपालु कप्तान बार-बार सीटी बजा-बजाकर सबको बुला रहा है—पुकार रहा है । जिसने उसकी पुकार सुनकर उसकी ओर ध्यान दिया वह विश्वव्यापी अग्निसे बचकर दु ख-सागरसे तुरत तर गया । इसी तरह तुम भी तर जाओगे ! अरे, निर्भय हो जाओगे—अमर हो जाओगे !! जाओ, जाओ ! शीघ्रता करो, अन्यथा जलते हो, बार-बार जलोगे । चेतो ! शीघ्र चेतो !!

श्रीभगवन्नाम

पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः ।
गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरबिन्दुभिः ॥

(गरुडपुराण)

'हे मनुष्यो ! प्रदीप्त पापाग्निको देखकर भय न करो, गोविन्द-नामरूप मेघोंके जलबिन्दुओंसे इसका नाश हो जायगा ।'

पापोंसे छूटकर परमात्माके परमपदको प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोंमे अनेक उपाय बतलाये गये हैं । दयामय महर्षियोंने दुःखकातर जीवोंके कल्याणार्थ वेदोंके आधारपर अनेक प्रकारकी ऐसी विधियाँ बतलायी हैं, जिनका यथाधिकार आचरण करनेसे जीव पापमुक्त होकर सदाके लिये निरतिशयानन्द परमात्मसुखको प्राप्त कर सकता है । परन्तु इस समय कलियुग है । जीवनकी अवधि बहुत थोड़ी है । मनुष्योंकी आयु प्रतिदिन घट रही है । आध्यात्मिक,आधिभौतिक और आधिदैविक तापोंकी वृद्धि हो रही है । भोगोंकी प्रबल लालसाने प्रायः सभीको विवश और उन्मत्त बना रक्खा है । कामनाओंके अशेष कलङ्कसे बुद्धिपर कालिमा छा गयी है । परिवार, कुटुम्ब, जाति या देशके नामपर होनेवाली विविध भौतिकी मोहमयी क्रियाओंके तीव्र धार-प्रवाहमे जगत् बह रहा है । देश और उन्नतिके नामपर धर्म, अहिंसा, सत्य और मनुष्यत्वतकका विसर्जन किया जा रहा है । सारे जगत्मे कुवासनामय कुप्रवृत्तियोंका ताण्डव-नृत्य हो रहा है । शास्त्रोंके कथनानुसार युगप्रभावसे या हमारे दुर्भाग्यदोषसे धर्मका एक पाद भी इस समय केवल नाममात्रको रहा है । आजकलके जीव धर्मानुमोदित सुखसे सुखी होना नहीं चाहते ।

सुख चाहते हैं—अटल, अखण्ड और आत्यन्तिक सुख चाहते

हैं, परन्तु सुखकी मूल भित्ति धर्मका सर्वनाश करनेपर तुले हुए हैं। ऐसी स्थितिमें सुखके स्वप्नसे भी जगत्को केवल निराश ही रहना पड़ता है। हमारी इस दुर्दशाको महापुरुषोंने और भगवद्भक्तोंने पहलेसे ही जान लिया था। इसीसे उन्होंने दयापरवश हो हमारे लिये एक ऐसा उपाय बतलाया जो इच्छा करनेपर सहजहीमें काममें लाया जा सकता है। परन्तु जिसका वह महान् फल होता है जो पूर्वकालमें बड़े-बड़े यज्ञ, तप और दानसे भी नहीं होता था। वह है श्रीहरिनामका जप-कीर्तन और स्मरण। वेदान्तदर्शनके निर्माता भगवान् व्यासदेवरचित भागवतमें ज्ञानी-श्रेष्ठ शुकदेवजी महाराज शीघ्र ही मृत्युको आलिङ्गन करनेके लिये तैयार बैठे हुए राजा परीक्षित्से पुकारकर कहते हैं—

> कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
> कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
> कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
> (१२।३।५१-५२)

'हे राजन्! इस दोषोंसे भरे हुए कलियुगमें एक महान् गुण यह है कि केवल श्रीकृष्णके 'नाम-कीर्तन' से ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है। सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंमें और द्वापरमें परिचर्यासे जो पद प्राप्त होता था वही कलियुगमें केवल श्रीहरिनामकीर्तनमें प्राप्त होता है।'

इसलिये चार सौ वर्ष पूर्व बंगालके नवद्वीप नामक स्थानमें प्रेमावतार श्रीश्रीचैतन्यदेवने अवतीर्ण होकर मुक्तकण्ठसे इसी बातकी घोषणा की थी कि, 'भय न करो, सबसे बड़ा प्रायश्चित्त और परमात्मा-के प्रेमसम्पादनका परमोत्तम साधन 'श्रीहरिनाम' है, संसारवासनाका

परित्याग कर दृढ विश्वासके साथ इसीमे लग जाओ और अपना उद्धार कर लो।' उन्होंने केवल ऐसा कहा ही नहीं, वल्कि स्वय लोगोंके घरोंपर जा-जाकर और अपने परम भागवत साथियोंको भेज-भेजकर येन केन प्रकारेण लोगोको हरि-नाममे लगाया। जगाई-मधाई-सरीखे प्रसिद्ध पातकी हरिनामपरायण हो गये। लोगोंको इस सन्मार्गमें लगानेके कार्यमे उन्होने गालियाँ सुनीं, कटूक्तियाँ सहीं, वल्कि श्रीनित्यानन्द और हरिदास आदि भक्तवरोंने तो भीषण प्रहार सहन करके पात्रापात्रका विचार छोडकर जनतामें हरिनाम वितरण किया।

इसी प्रकार भक्तश्रेष्ठ कवीर, नानक, तुकाराम, रामदास, ज्ञानदेव, सोपानदेव, मीरा, तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, चरणदास, दादू-दयाल, सुन्दरदास, सहजोबाई, दयाबाई, सखूबाई आदि भागवतोंने भी हरिनामको ही जीवोंके कल्याणका प्रधान उपाय समझा और अपनी दिव्यवाणीसे इसीका प्रचार किया! आधुनिक कालमें भी भारतवर्षमें जितने महात्मा सत हो गये हैं, सभीने एक स्वरसे मुक्त-कण्ठ होकर नाममहिमाका गान किया और कर रहे हैं।

जिस नामका इतना प्रभाव, महत्त्व और विस्तार है उसपर मुझ-जैसा रसानभिज्ञ मनुष्य क्या लिख सकता है? मेरा तो यह केवल एक तरहका दुःसाहस है, जो सतोंकी कृपा और प्रेमियोंके प्रेमके भरोसेपर ही किया जा रहा है। मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ? मैं तो नामका ही जिलाया जी रहा हूँ!

शास्त्रोंमें नाममहिमाके इतने अधिक प्रसङ्ग हैं कि उनकी गणना करना भी बड़ा कठिन कार्य है। इतना होते हुए भी जगत्‌के सब लोग नामपर विश्वास क्यों नहीं करते? नामका साधन तो कठिन

नहीं प्रतीत होता । पूजा, होम, यज्ञ आदिमें जितना अधिक प्रयास और सामग्रियोंका सग्रह करना पड़ता है, इसमें वह सब कुछ भी नहीं करना पडता । तो भी—

सब लोग नामपरायण क्यों नहीं होते ?

इसका उत्तर यह है कि नामपरायण होना जितना मुखसे सहज कहा जाता है, वास्तवमे उतना सहज नहीं है । बडे पुण्यबलसे नाममें रुचि होती है । शास्त्र पढना, उपदेश देना, बडे-बड़े शास्त्रार्थ करना सहज है, परन्तु निश्चिन्त मनसे विश्वासपूर्वक भगवान्‌का नाम लेना बडा कठिन है ।

जन्म जन्म मुनि जतनु कराही । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥

कुछ लोग तो इसकी ओर ध्यान ही नहीं देते, जो कुछ ध्यान देते हैं उन्हें इसका सुकरत्व (सहजपन) देखकर अश्रद्धा हो जाती है । वे समझते हैं कि जब बड़े-बडे यज्ञ, तप, दानादि सत्कर्मोसे ही पापवासनाका नाश होकर मनकी वृत्तियाँ शुद्ध और सात्त्विक नहीं बनतीं, तब केवल शब्दोच्चारण या शब्दस्मरणमात्रसे क्या हो सकता है ? वे लोग इसे मामूली शब्द समझकर छोड देते हैं । कुछ लोग पण्डिताईके अभिमानसे, शास्त्रोंके बाह्य अवलोकनसे केवल वाग्-वितण्डार्थ शास्त्रार्थपटु होकर नामका आदर नहीं करते । पाश्चात्त्य शिक्षाप्राप्त पुरुष तो प्राय आधुनिक पाश्चात्त्य सभ्यताकी माया-मरीचिकामें पडकर ऐसी बातोंको केवल गपोडा ही समझते हैं । कुछ सुधारका दम भरनेवाले लोग ('ससारका सुधार केवल हमारे बलपर होगा, ईश्वर वस्तु ही क्या है ? उसकी आवश्यकता तो घरबाररहित

संन्यासियोंको है, हमे उससे क्या मतलब है? अच्छा काम करेंगे, अच्छा फल आप ही होगा' ऐसी भावनासे) नामका तिरस्कार करते हैं।

भगवन्नामका स्मरण प्रायः विपत्तिकालमे ही हुआ करता है। जब मनुष्यके सब सहारे छूट जाते हैं, कहींसे कोई आशा नहीं रहती, किसीसे कोई आश्वासन नहीं मिलता, जगत्के लोग मुखसे नही बोलना चाहते, निर्धनता, निर्जनता, आरोग्यहीनता और अपमानसे मन घबड़ा उठता है, दुःखोंकी विषमयी ज्वालासे हृदय दग्ध होने लगता है; मित्र, स्नेही, सुहृद् और घरवालोंका एकान्त अभाव हो जाता है, तब प्राण रो उठते हैं। हृदय खोजता है किसी ऐसी शीतल-सुरम्य वस्तुको, जिसे पाकर उसे कुछ शीतलता, कुछ शान्ति प्राप्त हो सके। ऐसे दुःसमयमे छटपटाते हुए व्याकुल प्राण स्वाभाविक ही उस अनजाने और अनदेखे हुए प्रियतमकी गोदका आश्रय ढूँढ़ते हैं, ऐसे अवसरपर बडे-बडे शास्त्राभिमानी, शास्त्रार्थमे तर्क-युक्तियोंसे ईश्वरका खण्डन करनेवाले, धन और पदके मदमे ईश्वरको तुच्छ समझनेवाले, विषयोंकी प्रमादमदिराके अविरत पानसे उन्मत्त होकर विचरनेवाले मनुष्योंके मुँहसे भी सहसा ऐसे उद्गार निकल पडते है, कि 'हे राम! हे ईश्वर! तू ही बचा! तेरे बिना अब और कोई सहारा नहीं है।' ऐसे ही विपद्-संकुल समयमे जिह्वा स्वच्छन्दतासे भगवन्नामका उच्चारण करने लगती है और ऐसे ही शोकमोहपूर्ण समयमे मन और प्राण भी उसका स्मरण करने लग जाते हैं। इसी लोभसे तो माता कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे विपत्तिका वरदान माँगा था। उसने कहा था कि 'हे कृष्ण! तेरा स्मरण विपत्तिमे ही होता है इसलिये मुझे बार-बार विपत्तिके जालमे डालता रह!'

तात्पर्य यह कि भगवन्नामका स्मरण प्रायः दुःखकालमें होता है। दुखी, अनाश्रित और दीन जन ही प्रायः उसका नाम लिया करते हैं, इसलिये कुछ लोग जो विषयोंके बाहुल्यसे मोहवश अपनेको बड़ा, बुद्धिमान्, धन-जनवान् और सुखी मानते हैं, भगवन्नाम लेकर अपनी समझसे दीन-दुखी और अनाश्रितोंकी श्रेणीमें सम्मिलित होना नहीं चाहते।

कुछ ज्ञानाभिमानी लोग ज्ञानके अभिमानमें हरिनामको गौण या मन्द साधन समझकर त्याग देते हैं। जनता अधिकतर संसारमें बड़े लोग कहलानेवालोंके पीछे ही चला करती है। यही सब कारण हैं कि सब लोग हरिनामके परायण नहीं होते।

एक कारण और है जिससे नामके विस्तारमें बड़ी बाधा पड़ती है, वह है नामको पापका साधन बना लेना। ऐसे लोग संसारमें बहुत हैं जो पाप करनेमें जरा-सा भी संकोच नहीं करते और समझ बैठते हैं कि नाम लेते ही पापका नाश हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरिनाम पापरूपी घासके बड़े ढेरको जलानेके लिये साक्षात् अग्नि है। बड़े-से-बड़े पाप नामके उच्चारणमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।

वैशम्पायनसंहितामें कहा है—

सर्वधर्मबहिर्भूतः सर्वपापरतस्तथा।
मुच्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्तनात्॥

सर्वधर्मत्यागी और सर्वपापनिरत पुरुष भी यदि हरि-नाम-कीर्तन करता है तो वह पापोंसे छूट जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्वके पापोंका नाश करनेके लिये हरि-नाम सबसे बड़ा और शीघ्र फलदायक प्रायश्चित्त है। नामके प्रतापसे पापी-से-पापी मनुष्य भी भगवान्‌के परमपदको प्राप्त हो जाता है, परन्तु जो मनुष्य जान-

बूझकर हरि-नामकी दुहाई देकर मनमें दृढ़ सङ्कल्प करके पापोंमें प्रवृत्त होता है उसका कहीं निस्तार नहीं होता। रोगनिवृत्तिके लिये ही औषधका सेवन किया जाता है; परन्तु जो लोग बीमारी बढ़ानेके लिये दवा लेते हैं उनको सिवा मरनेके और क्या फल मिल सकता है ? पद्मपुराणका वचन है—

नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः।

'जो नामका सहारा लेकर पापोंमे प्रवृत्त होता है वह अनेक प्रकारकी यम-यातना भोग करनेपर भी शुद्ध नहीं होता है।'

जे नर नामप्रताप बल, करत पाप नित आप।
बज्रलेप ह्वै जायँ ते, अमिट सुदुष्कर पाप॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि—

परदाररतो वापि परापकृतिकारकः।
संशुद्धो मुक्तिमाप्नोति हरेर्नामानुकीर्तनात्॥

(मत्स्यपुराण)

'परस्त्रीगामी और परपीडनकारी मनुष्य भी हरि-नाम-कीर्तनसे शुद्ध होकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।' इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि भागवतके कथनानुसार चोर, शराबी, मित्रद्रोही, स्त्री, राजा, पिता, गौ तथा ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला, गुरुपत्नीगामी और अन्यान्य बडे-बडे पापोंमे रत रहनेवाला पुरुष भी भगवान्‌के नाम-ग्रहणमात्रसे तत्काल मुक्त हो जाता है—

पातक उप-पातक महा, जेते पातक और।
नाम लेत तत्काल सब, जरत खरत तेहि ठौर॥

पहलेके कितने भी बड़े-बडे पाप सञ्चित क्यों न हों, सच्चे मनसे भगवन्नाम लेते ही वे सब अग्निमें ईंधनकी तरह जल जाते हैं।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भगवन्नाम लेनेवालोंको पाप करनेके लिये छूट मिल जाती है। भगवान्‌का नाम भी लेंगे और साथ-ही-साथ मनमाने पाप भी करते रहेंगे, इस प्रकारकी जिनकी कुवासना है, उनके लिये तो फल उलटा ही होता है। नाम-महिमाकी दुहाई देकर पाप करनेवालेको नरकमें भी जगह नहीं मिलती। जो लोग जान-बूझकर धनके लोभसे चोरी करके, परस्त्री-गमन करके, क्रोध या लोभवश हिंसा करके, गुरु-शास्त्रोंका अपमान करके, मद्यपान-म्लेच्छ-भोजनादि करके, स्त्री-हत्या, भ्रूण-हत्या करके और झूठी गवाही देकर या झूठा मामला सजा करके 'राम-राम' कह देते हैं और अपना छुटकारा मान लेते हैं उनके पापोंका नाश नहीं होता। उनके पाप तो वज्रलेप हो जाते हैं। ऐसे ही लोगोंको देखकर अच्छे लोग भी नाम-महिमाको अर्थवाद (स्तुतिमात्र) समझकर नामपरायण नहीं होते। परन्तु यह उनकी भूल है—

नाममहिमा केवल रोचक वाक्य नहीं—

यह सर्वथा यथार्थ तत्त्व है। बड़े-बड़े ऋषियों और संत-महात्माओंने नाम-महिमाका प्रत्यक्ष अनुभव करके ही उसके गुण गाये है। अब भी ऐसे लोग मिल सकते हैं जिन्हे नामकी प्रबल शक्तिका अनेक बार अनेक तरहसे अनुभव हो चुका है। परन्तु वे लोग उन सब रहस्योंको अश्रद्धालु और नामापमानकारी लोगोंके सामने कहना नहीं चाहते, क्योंकि यह भी एक नामका अपराध है—

> अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति
> यश्चोपदेशः शिवनामापराधः।

'अश्रद्धालु, नाम-विमुख और सुनना न चाहनेवालेको नामका उपदेश करना कल्याणरूप नामका एक अपराध है।'

जो नामके रसिक हैं, जिन्हे इसमें असली रसास्वादका कभी अवसर प्राप्त हो गया है वे तो फिर दूसरी ओर भूलकर भी नहीं ताकते। न उन्हे शरीरकी कुछ परवा रहती है और न जगत्की। मतवाले शराबीकी तरह नामप्रेममे मस्त हुए वे कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी नाचते हैं। उनके लिये फिर कोई अपना-पराया नही रह जाता। ऐसे ही प्रेमियोके सम्बन्धमे महात्मा सुन्दरदासजी लिखते हैं—

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों तब भूलि गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरे जित ही तित नेकु रही न सरीर सँभारा॥
स्वास उस्वास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा बिधि छाकि पर्यो रस पी मतवारा॥

वास्तवमे ऐसे ही पुरुष नामके यथार्थ भक्त हैं, और इन्हीं लोगोद्वारा किया हुआ नामोच्चारण जगत्को पावन कर देता है, जहाँतक ऐसी प्रेमकी मस्ती न प्राप्त हो, वहाँतक प्रेममार्गमें भी शास्त्रोंकी मर्यादाका पूरा रक्षण करना चाहिये। भगवान् नारद कहते हैं—

अन्यथा पातित्याशङ्कया।

(भक्तिसूत्र १३)

'नहीं तो पतित होनेकी आशङ्का है', अतएव आरम्भमे अपने-अपने वर्णाश्रमानुमोदित सन्ध्या-वन्दन, पिता-माता आदिकी सेवा, परिवारसरक्षण आदि वैदिक और लौकिक कार्योंको करते हुए श्रीभगवन्नामका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। स्मृतिविहित कर्मोंके त्यागकी आवश्यकता नही है, यथासमय और यथास्थान उनका आचरण

अवश्य करना चाहिये। रामनाम ऐसा धन नहीं है जो ऐसे-वैसे कामोंमें खर्च किया जाय। जो मनुष्य मामूली-सा काँचका टुकड़ा खरीदने जाकर बदलेमें बहुमूल्य हीरा दे आता है वह कभी बुद्धिमान् नहीं कहलाता। इसी प्रकार जो कार्य लौकिक या स्मृतिविहित कर्मोंके आचरणसे सिद्ध हो सकता है, उसमें नामका प्रयोग करना राजाधिराजसे झाड़ू दिलवानेके समान है—सोनेको मिट्टीके भाव बेचनेके समान है, अतएव नाम-जपमें स्मृतिविहित कर्मोंके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं।

कुछ लोगोंकी यह शंका है कि आजकल नाम लेनेवाले तो बहुत लोग देखे जाते हैं, परन्तु उनकी दशा देखते हैं तो मालूम होता है कि उनको कोई लाभ नहीं हुआ। जिस नामके एक बार उच्चारण करनेमात्रसे सम्पूर्ण पापोंका नाश होना बतलाया जाता है, उस नामकी लाखों बार आवृत्ति करनेपर भी लोग पापोंमें प्रवृत्त और दुखी देखे जाते हैं, इसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें, पहली बात तो यह है कि लाखों बार नामकी आवृत्ति उनके द्वारा वस्तुतः होती नहीं, धोखेसे समझ ली जाती है। दूसरा कारण यह है कि उनकी नाममें यथार्थ श्रद्धा नहीं है। नामके इस माहात्म्यमें उन्हें स्वयं ही संशय है। भगवान्ने गीतामें कहा है—*'संशयात्मा विनश्यति'*, इसीलिये उन्हें पूरा लाभ नहीं होता। भजनमें श्रद्धा ही फलसिद्धिका मुख्य साधन है। अवश्य ही भजन करनेवालेमें श्रद्धाका कुछ अंश तो रहता ही है। यदि श्रद्धाका सर्वथा अभाव हो तो भजनमें प्रवृत्ति ही न हो। बिना किञ्चित् श्रद्धा हुए किसी कार्यविशेषमें प्रवृत्त होना बड़ा कठिन है। अतएव जो नाम ग्रहण करते हैं उनमें श्रद्धाका कुछ

अंश तो अवश्य है, परन्तु श्रद्धाके उस क्षुद्र अंशकी अपेक्षा संशयकी मात्रा कहीं अधिक है, इसीलिये उन्हे वास्तविक फलसे वञ्चित रहना पडता है । गङ्गास्नानसे पापोंका अशेष नाश होना बतलाया गया है; परन्तु नित्य गङ्गास्नान करनेवाले लोग भी पापमे प्रवृत्त होते देखे जाते हैं (यद्यपि एक बारका भी भगवन्नाम हजारों बारके गङ्गा-स्नानसे बढकर है)।

श्रद्धापर एक दृष्टान्त

एक समय शिवजी महाराज पार्वतीके साथ हरिद्वारमें घूम रहे थे । पार्वतीने देखा कि सहस्रों मनुष्य गङ्गामे नहा-नहाकर हर-हर करते चले जा रहे है, परन्तु प्रायः सभी दुखी और पापपरायण हैं । पार्वतीने बडे आश्चर्यके साथ शिवजीसे पूछा कि 'हे देवदेव ! गङ्गामे इतनी बार स्नान करनेपर भी इनके पाप और दु.खोका नाश क्यों नहीं हुआ ? क्या गङ्गामें सामर्थ्य नहीं रही ?' शिवजीने कहा—'प्रिये ! गङ्गामें तो वही सामर्थ्य है; परन्तु इन लोगोंने पापनाशिनी गङ्गामें स्नान ही नहीं किया है तब इन्हे लाभ कैसे हो ?' पार्वतीने साश्चर्य कहा कि 'स्नान कैसे नहीं किया ? सभी तो नहा-नहाकर आ रहे हैं ? अभीतक इनके शरीर भी नहीं सूखे हैं ।' शिवजीने कहा—'ये केवल जलमे डुबकी लगाकर आ रहे हैं । तुम्हे कल इसका रहस्य समझाऊँगा ।' दूसरे दिन बड़े जोरकी बरसात होने लगी । गलियॉ कीचड़से भर गयीं । एक चौड़े रास्तेमें एक गहरा गड्ढा था, चारों ओर लपटीला कीचड़ भर रहा था । शिवजीने लीलासे ही वृद्ध-रूप धारण कर लिया और दीन—विवशकी तरह गड्ढेमे जाकर ऐसे पड गये जैसे कोई मनुष्य चलता-चलता गड्ढेमे गिर पडा हो और निकलनेकी चेष्टा करने-पर भी न निकल सकता हो ।

पार्वतीको यह समझाकर गड्ढेके पास बैठा दिया कि 'देखो ! तुम, लोगोंको सुना-सुनाकर यों पुकारती रहो कि मेरे वृद्ध पति अकस्मात् गड्ढेमें गिर पड़े हैं, कोई पुण्यात्मा इन्हे निकालकर इनके प्राण बचावे और मुझ असहायकी सहायता करे ।' शिवजीने यह और समझा दिया कि जब कोई गड्ढेमेंसे मुझे निकालनेको तैयार हो तब इतना और कह देना कि 'भाई ! मेरे पति सर्वथा निष्पाप हैं, इन्हें वही छुए जो स्वय निष्पाप हो, यदि आप निष्पाप है तो इनके हाथ लगाइये, नहीं तो हाथ लगाते ही आप भस्म हो जायँगे ।' पार्वती 'तथास्तु' कहकर गड्ढेके किनारे बैठ गयी और आने-जानेवालोको सुना-सुनाकर शिवजीकी सिखायी हुई बात कहने लगी । गङ्गामे नहा-कर लोगोंके दल-के-दल आ रहे हैं । सुन्दरी युवतीको यों बैठी देख-कर कइयोंके मनमे पाप आया, कई लोक-लज्जासे डरे तो कइयोंको कुछ धर्मका भय हुआ, कई कानूनसे डरे । कुछ लोगोंने तो पार्वतीको यह सुना भी दिया कि मरने दे बुड्ढेको ! क्यों उसके लिये रोती है ? आगे और कुछ भी कहा, मर्यादा भङ्ग होनेके भयसे वे शब्द लिखे नहीं जाते । कुछ दयालु सच्चरित्र पुरुष थे, उन्होंने करुणावश हो, युवतीके पतिको निकालना चाहा, परन्तु पार्वतीके वचन सुनकर वे भी रुक गये । उन्होंने सोचा कि हम गङ्गामें नहाकर आये हैं तो क्या हुआ, पापी तो है ही, कहीं होम करते हाथ न जल जायँ । बूढ़ेको निकालने जाकर इस स्त्रीके कथनानुसार हम स्वय भस्म न हो जायँ । सुतरा किसीका साहस नहीं हुआ । सैकड़ों आये, सैकड़ोंने पूछा और चले गये । सन्ध्या हो चली । शिवजीने कहा—'पार्वती ! देखा, आया कोई गङ्गामे नहानेवाला ?'

थोडी देर बाद एक जवान हाथमे लोटा लिये हर-हर करता हुआ निकला, पार्वतीने उससे भी वही बात कही। युवकका हृदय करुणासे भर आया। उसने शिवजीको निकालनेकी तैयारी की। पार्वतीने रोककर कहा कि 'भाई! यदि तुम सर्वथा निष्पाप नहीं होओगे तो मेरे पतिको छूते ही जल जाओगे।' उसने उसी क्षण बिना किसी सङ्कोचके दृढ निश्चयके साथ पार्वतीसे कहा कि 'माता! मेरे निष्पाप होनेमे तुझे सन्देह क्यो होता है? देखती नहीं, मैं अभी गङ्गा नहाकर आया हूँ। भला गङ्गामे गोता लगानेके बाद भी कभी पाप रहते हैं? तेरे पतिको निकालता हूँ।' युवकने लपककर बूढेको ऊपर उठा लिया। शिव-पार्वतीने उसे अधिकारी समझकर अपना असली स्वरूप प्रकटकर उसे दर्शन देकर कृतार्थ किया। शिवजीने पार्वतीसे कहा कि 'इतने लोगोंमेसे इस एकने ही वास्तवमे गङ्गास्नान किया है।' इसी दृष्टान्तके अनुसार जो लोग बिना श्रद्धा और विश्वासके केवल दम्भके लिये नामग्रहण करते हैं, उन्हें वास्तविक फल नहीं मिलता; परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि नामग्रहण व्यर्थ जाता है।

नामका फल अवश्य होता है—

परन्तु जैसा चाहिये वैसा नही होता। दम्भार्थ नाम लेनेवाले भी संसारमें पूजे जाते हैं। उनके पापोंका नाश भी होता ही है, परन्तु अनन्त जन्मोंके सञ्चित और इस समय भी लगातार होनेवाले अनन्त पाप श्रद्धारहित नामसे पूरे नष्ट नहीं हो पाते। नामसे पूरा फल प्राप्त न होनेमें श्रद्धाके अतिरिक्त एक और प्रधान कारण है—

साधकका सकाम भाव!

हम बहुत बड़ी मूल्यवान् वस्तुको बहुत सस्ते दामोंपर बेच देते

है। सिरमें मामूली दर्द होता है तो उसे मिटानेके लिये 'राम-राम' कहते हैं। सौ-पचास रुपयोंकी कमाईके लिये राम-नाम लेते हैं। स्त्री, बच्चोंकी आरोग्यताके लिये राम-नाम लेते हैं। मान-बड़ाई पानेके लिये राम-नाम कहते हैं। सन्तान-सुखके लिये राम-नाम कहते हैं। फल यह होता है कि हम राम-नाम लेनेपर भी कमानेके साथ ही लुटानेवाले मूर्खके समान जैसे-के-तैसे ही रह जाते हैं। चलनीमें जितना भी पानी भरते रहो, सभी निकल जायगा। हमारा अन्तःकरण भी कामनाओं-के अनन्त छेदोंसे चलनी हो रहा है। इसमें कुछ भी ठहरता नहीं। राम-नामका फल कैसे हो? प्यास लगी हुई है, जगत्‌में सुखकी पिपासा किसको नहीं है? पवित्र जलका भी झरना झर रहा है, राम-नामके झरनेका प्रवाह सदा ही अबाधितरूपसे बहता है, परन्तु हम अभागे उस झरनेके आगे अञ्जलि बाँधकर जल ग्रहण नहीं करते। हम उसके आगे रखते हैं हजारों छेदोंवाली चलनी, जिसमें न तो कभी पानी ठहरता है और न हमारी प्यास ही बुझती है। सकामभावसे लिये हुए नामसे भी, नामके असली फल—आत्यन्तिक सुखसे—हम इसी प्रकार वञ्चित रह जाते हैं। प्रथम तो कोई भगवन्नाम लेता ही नहीं और यदि कोई लेता है तो वह सकामभावसे, धन-सन्तान, मान-बड़ाईकी वृद्धिके लिये लेता है। नियमानुसार फलमें जहाँ-का-तहाँ ही रहना पड़ता है। परन्तु नामकी महिमा अपार है। इस प्रकार लिये हुए नामसे भी फल तो होता ही है। सकाम कर्मकी सिद्धि भी होती है और आगे चलकर भगवद्भक्ति भी प्राप्त होती है। जब इन पंक्तियोंका क्षुद्र लेखक सकामभावसे नाम-जप किया करता था तब कई बार उसकी ऐसी विपत्तियाँ टली हैं जिनके टलनेकी कोई भी आशा नहीं थी।

केवल वह विपत्तियाँ ही नहीं टलीं, उसका और फल भी हुआ। नाममें रुचि बढ़ी और आगे चलकर निष्कामभाव भी हो गया। भगवन्नाम लेनेका अन्तिम परिणाम है भगवान्मे एकान्त प्रेम हो जाना। एकान्त प्रेम होनेके बाद प्रेममयके मिलनेमे जरा-सा भी विलम्ब नहीं होता जैसे ध्रुवको और विभीषणको राज्यकी भी प्राप्ति हुई और भगवत्प्रेमकी भी। इसीलिये शास्त्रोंमे चाहे जैसे भगवन्नाम लेनेवालेको भी बड़ा उत्तम बतलाया है। भगवान्ने गीतामे इसीलिये अर्थार्थी भक्तको भी उदार और पुण्यात्मा बतलाया है और अन्तमे *'मद्भक्ता यान्ति मामपि'* कहकर चाहे जिस प्रकार भी भगवद्भक्ति करनेवालेको अपनी प्राप्ति कही है; क्योंकि सकामभावसे अन्य सबकी आशा छोड़कर, अन्य सबका आश्रय त्यागकर केवल भगवान्‌की भक्तिके परायण होना भी बडे भारी पुण्योंका फल है। अतएव सकामभावसे भगवान्‌के नाम ग्रहण करनेवाले लोग भी बड़े पूज्य और मान्य हैं परन्तु उनको सकामभावकी प्रतिबन्धकताके कारण नामके वास्तविक फल नामीके प्रेमकी या स्वयं नामीकी प्राप्तिमें विलम्ब अवश्य हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि नामसे फल तो अवश्य होता है परन्तु अश्रद्धा, अविश्वास और कामनाके कारण उसके असली फलकी प्राप्तिमें देर हो जाती है। यदि साधक इस अपने दोषसे होनेवाली देरीका दोष नामपर लगाकर उसे अर्थवाद कहता है तो यह भी उसका अपराध है।

नामके दस अपराध—

—बतलाये गये हैं—(१) सत्पुरुषोंकी निन्दा, (२) नामोंमें भेदभाव, (३) गुरुका अपमान, (४) शास्त्रनिन्दा, (५) हरिनाममें अर्थवाद (केवल स्तुतिमात्र है ऐसी) कल्पना, (६) नामका सहारा

लेकर पाप करना, (७) धर्म, व्रत, दान और यज्ञादिके साथ नामकी तुलना, (८) अश्रद्धालु, हरिविमुख और सुनना न चाहनेवालेको नामका उपदेश करना, (९) नामका माहात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और (१०) 'मैं' 'मेरे' तथा भोगादि विषयोंमे लगे रहना।

यदि प्रमादवश इनमेंसे किसी तरहका नामापराध हो जाय तो उससे छूटकर शुद्ध होनेका उपाय भी पुन नाम-कीर्तन ही है। भूलके लिये पश्चात्ताप करते हुए नाम-कीर्तन करनेसे नामापराध छूट जाता है। पद्मपुराणका वचन है—

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥

नामापराधी लोगोंके पापोंको नाम ही हरण करता है। निरन्तर नाम-कीर्तनसे सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं। नामके यथार्थ माहात्म्यको समझकर जहाँतक हो सके, नाम लेनेमें कदापि इस लोक और परलोकके भोगोंकी जरा-सी भी कामना नहीं करनी चाहिये। यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार नाम-जपसे कामना-सिद्धिके सिवा अन्त.करण-की शुद्धि होकर भगवद्भक्तिरूप विशेष फल भी मिलता है, परन्तु नियम यही है कि जैसी कामना हो—साङ्गोपाङ्ग कर्म होनेपर—वैसा ही फल मिल जाय। जो लोग भगवन्नामका साधारण बातोंमे प्रयोग करते हैं वे वास्तवमें भगवन्नामकी अपार महिमासे सर्वथा अनभिज्ञ है या उसपर उनका विश्वास नहीं है। जो रत्नके मूल्यसे अनभिज्ञ होगा वही उसे काँचके मोलपर बेचेगा।

भगवन्नामके मूल्यपर एक दृष्टान्त

एक श्रद्धालु भक्त प्रतिदिन गाँवके बाहर एक महात्माके पास

केवल वह विपत्तियाँ ही नहीं टलीं, उसका और फल भी हुआ। नाममें रुचि बढ़ी और आगे चलकर निष्काममाव भी हो गया! भगवन्नाम लेनेका अन्तिम परिणाम है भगवान्‌में एकान्त प्रेम हो जाना। एकान्त प्रेम होनेके बाद प्रेममयके मिलनेमें जरा-सा भी विलम्ब नहीं होता जैसे ध्रुवको और विभीषणको राज्यकी भी प्राप्ति हुई और भगवत्प्रेमकी भी। इसीलिये शास्त्रोंमे चाहे जैसे भगवन्नाम लेनेवालेको भी बड़ा उत्तम बतलाया है। भगवान्‌ने गीतामे इसीलिये अर्थार्थी भक्तको भी उदार और पुण्यात्मा बतलाया है और अन्तमे '*मद्भक्ता यान्ति मामपि*' कहकर चाहे जिस प्रकार भी भगवद्भक्ति करनेवालेको अपनी प्राप्ति कही है, क्योंकि सकामभावसे अन्य सबकी आशा छोड़कर, अन्य सबका आश्रय त्यागकर केवल भगवान्‌की भक्तिके परायण होना भी बड़े भारी पुण्योंका फल है। अतएव सकामभावसे भगवान्‌के नाम ग्रहण करनेवाले लोग भी बड़े पूज्य और मान्य हैं परन्तु उनको सकामभावकी प्रतिबन्धकताके कारण नामके वास्तविक फल नामीके प्रेमकी या स्वयं नामीकी प्राप्तिमे विलम्ब अवश्य हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि नामसे फल तो अवश्य होता है परन्तु अश्रद्धा, अविश्वास और कामनाके कारण उसके असली फलकी प्राप्तिमे देर हो जाती है। यदि साधक इस अपने दोषसे होनेवाली देरीका दोष नामपर लगाकर उसे अर्थवाद कहता है तो यह भी उसका अपराध है।

नामके दस अपराध—

—बतलाये गये हैं—(१) सत्पुरुषोंकी निन्दा, (२) नामोंमें भेदभाव, (३) गुरुका अपमान, (४) शास्त्रनिन्दा, (५) हरिनाममे अर्थवाद (केवल स्तुतिमात्र है ऐसी) कल्पना, (६) नामका सहारा

जाया करता था। जब महात्माकी सेवा करते-करते उसे बहुत दिन बीत गये तब महात्माने उसे अधिकारी समझकर कहा कि 'वत्स! तेरी मति भगवान्‌में है, तू श्रद्धालु है, गुरुसेवापरायण है, कुतार्किक नहीं है, साधनमें आलसी नहीं है, शास्त्रके वचनोंमे विश्वासी है, किसीका बुरा नहीं चाहता, किसीसे घृणा और द्वेष नहीं करता, सरल-चित्त है, काम, क्रोध, लोभसे डरता है, सतोका उपासक है और जिज्ञासु है; इसलिये तुझे एक ऐसा गोपनीय मन्त्र देता हूँ जिसका पता बहुत ही थोड़े लोगोंको है। यह मन्त्र परम गुप्त और अमूल्य है, किसीसे कहना नही!' यों कहकर महात्माने उसके कानमे धीरेसे कह दिया 'राम'। श्रद्धालु भक्त मन्त्रराज 'राम' का जप करने लगा। वह एक दिन गङ्गा नहाकर लौट रहा था तो उसका ध्यान उन लोगोंकी तरफ गया जो हजारोंकी सख्यामे उसीकी तरह गङ्गा नहाकर जोर-जोरसे 'राम'-'राम' पुकारते चले आ रहे थे। सुनता तो रोज ही था परन्तु कभी इस ओर उसका ध्यान नही गया था। आज ध्यान जाते ही उसके मनमे यह विचार आया कि महात्मा तो राममन्त्र को बड़ा गुप्त बतलाते थे, मुझसे कह भी दिया था कि किसीसे कहना नही, परन्तु इसको तो सभी जानते हैं, हजारो मनुष्य 'राम-राम' पुकारते हुए चलते हैं। उसके मनमे कुछ सशय उत्पन्न हो गया। वह अपने घर न जाकर सीधा गुरुके समीप गया। महात्माने कहा कि 'वत्स! आज इस समय कैसे आया?' उसने अपना संशय सुनाकर कहा कि 'प्रभो! मेरे समझनेमे भ्रम हुआ है या इसका और कोई मतलब है? अपनी दिव्यवाणीसे मेरा सन्देह दूर करनेकी कृपा कीजिये!' महात्माने उसके मनकी बात जान ली और कहा कि 'भाई! तेरे प्रश्नका उत्तर पीछे दिया जायगा। पहले तू मेरा

एक काम कर !' महात्माने झोलीमेंसे एक चमकती हुई काँचकी-सी गोली निकाली और उसे भक्तके हाथमें देकर कहा कि—'बाजारमें जाकर इसकी कीमत करवाके लौट आ। बेचना नहीं है, सिर्फ कीमत जाननी है। सावधान ! कीमत आँकानेमें कहीं भूल न हो जाय ! भक्त श्रद्धालु था, आजकलका-सा कोई होता तो पहले ही गुरु महाराजको आड़े हाथों लेता और कहता कि 'मैं तुम्हारे काँचके टुकड़ेकी कीमत जँचवाने नहीं आया हूँ, तुम्हारा कोई गुलाम नहीं हूँ। पहले मेरे प्रश्नका उत्तर दो, नहीं तो मेरे साथ छल करनेके अपराधमें तुमपर कोर्टमें नालिश की जायगी।' वह समय दूसरा था। भक्त अपना प्रश्न वहीं छोड़कर गुरुका काम करनेके लिये बाजारमें गया। सबसे पहले एक शाक बेचनेवाली मिली। भक्तने गुरुकी चीज उसे दिखलाकर कहा कि 'इसकी क्या कीमत देगी ?' शाक बेचनेवालीने पत्थरकी चमक और सुन्दरता देखकर सोचा कि बच्चोंके खेलनेके लिये काँचकी बड़ी सुन्दर गोली है। बाजारमें कहीं ऐसी नहीं मिलती। उसने कहा—'सेर-दो-सेर आलू या बैंगन ले लो।' वह आगे बढ़ा, एक सुनारकी दूकान थी, वहाँ ठहरा। सुनारको गोली दिखलाकर पूछा—'भाई ! इसकी क्या कीमत दोगे ?' सुनारने हाथमें लेकर देखा और उसे अच्छा पुखराज (नकली हीरा) समझकर सौ रुपये देनेको कहा। भक्तकी भी दिलचस्पी बढ़ी, वह और आगे बढ़ा, एक महाजनके यहाँ गया। महाजनने गोली देखकर मनमें विचार किया कि इतना बड़ा और ऐसा अच्छा हीरा तो जगत्‌में कहाँसे होगा ? है तो पुखराज ही, परन्तु हीरा-सा लगता है। बड़े घरमें नकली भी असली ही समझा जाता है, उसने हजार रुपयोंमें माँगा। भक्तने सोचा कि हो-न-हो, है तो कोई बड़ी मूल्यवान् वस्तु।

वह और आगे बढ़ा और एक जौहरीकी दूकानपर गया। जौहरीने परीक्षा की तो उसे हीरा ही मालूम दिया, परन्तु इतना बड़ा और ऐसा हीरा कभी उसने देखा ही न था इसलिये उसे कुछ सन्देह रहा तथापि उसने एक लाख रुपयोंमे उसे मॉगा। भक्त 'बेचना नहीं है' कहकर एक सबसे बड़े जौहरीकी दूकानपर गया। जब गुरुके पाससे आया था तब तो उसे जौहरियोके पास जानेका साहस ही नहीं था, वह स्वय उसे मामूली कॉच समझता था, परन्तु ज्यों-ज्यो कीमत बढ़ती गयी त्यों-त्यो उसका भी साहस बढता गया। बड़े जौहरीने हीरा देखकर कहा कि 'भाई! यह तो अमूल्य है। इस देशकी सारी जवाहरात इसके मूल्यमें दे दी जाय तब भी इसका मूल्य पूरा नहीं होता। इसे बेचना नही।' यह सुनकर भक्तने विचार किया कि अब तो सीमा हो चुकी।

वह लौटकर महात्माके पास गया और बोला कि 'महाराज! इसकी कीमत कोई कर ही नहीं सकता, यह तो अमूल्य वस्तु है।' गुरुने पूछा कि 'तुमको यह किसने बताया?' भक्तने कहा कि 'प्रभो! मैने यहॉसे बाजारमे जाकर पहले शाकवालीसे पूछा तो सेर-दो-सेर शाक देना स्वीकार किया, सुनारने सौ रुपये कहे, महाजनने हजार, जौहरीने लाख और अन्तमे सबसे बडे जौहरीने इसे अमूल्य बतलाते हुए यह कहा कि यदि देशकी सारी जवाहरात इसके बदलेमे दे दी जाय तब भी इसका मूल्य पूरा नही होता।' महात्माने उससे रत्न लेकर अपनी झोलीमे रख लिया। भक्तने कहा कि 'महाराज! अब मेरी शङ्का-निवारण कीजिये।' महात्माने कहा—'भाई! मैं तो तुझे शङ्का-निवारणके लिये दृष्टान्तसहित उपदेश दे चुका। तू अभी नहीं समझा, इसलिये फिर समझाता हूँ। इस रत्नकी कीमत करानेमें ही तेरी शङ्का

दूर होनी चाहिये थी। रत्न अमूल्य था, परन्तु उसकी असली पहचान केवल सबसे बडे जौहरीको ही हुई, दूसरे नहीं पहचान सके। यदि मैंने तुझे बेचनेके लिये आज्ञा दे दी होती तो तू दो सेरके बदले पाँच-सात सेर शाकके मूल्यपर इसे बेच ही देता, आगे बढता ही नहीं। अमूल्य वस्तु कौडीके मूल्य चली जाती! कितना बडा नुकसान होता। इसी प्रकार श्रीराम-नाम भी गुप्त और अमूल्य पदार्थ है, इसकी पहचान सबको नहीं है और न इसका मूल्य ही सब कोई जानते हैं। चीज हाथमें होनेपर भी जबतक उसकी पहचान नहीं होती, तबतक उसका असली-पन गुप्त ही रहता है। इसी तरह राम-नामके असली महत्त्वको भी बहुत कम लोग जानते हैं। जो राम-नामका व्यवसाय करते हैं वे बेचारे बडे दयाके पात्र हैं, क्योंकि वे इस अमूल्य धन राम-नामको कौडीके मूल्यपर बेच देते हैं। इसीसे परम मूल्यवान् रत्नको दो सेर शाकके बदलेमें बेच देनेवाले मूर्खके समान वे सदा ही भक्ति और प्रेममें दरिद्री ही रहते हैं। भक्ति और प्रेमके हुए बिना परमात्मा नहीं मिलते और परमात्माको प्राप्त किये बिना दुःखोंसे कभी छुटकारा नहीं हो सकता। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति परमात्माको प्राप्त करनेमें ही है और उस—

—परमात्माकी प्राप्तिका परम साधन श्रीभगवन्नाम है—

इसलिये भगवन्नामका किसी भी दूसरे काममें प्रयोग नहीं करना चाहिये। भगवन्नाम लेना चाहिये केवल भगवान्‌के लिये। भगवान्‌के लिये भी नहीं, उसके प्रेमके लिये—प्रेमके लिये भी नहीं परन्तु इसलिये कि लिये बिना रहा नहीं जाता। मनकी वृत्तियाँ ऐसी बन जानी चाहिये कि जिससे भजन हुए बिना एक क्षण भी चैन नहीं पडे। जैसे श्वास रुकते ही गला घुट जाता है—प्राण अत्यन्त व्याकुल होकर

छटपटाने लगते है, इसी प्रकार भजनमे जरा-सी भी भूल होनेसे, क्षण-भरके लिये भी भजन छूटनेमें प्राण छटपटाने लगें। इसीलिये भगवान् नारद कहते हैं—

'अव्यावृतभजनात्'

तैलधारावत् निरन्तर भजन करनेसे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। भजनमे सबसे पहले नामकी आवश्यकता है। जिसका भजन करना होता है, सर्वप्रथम उसका नाम जानना पड़ता है इसलिये नाम ही भजनका मूल है। इस—

—नाम-भजनके कई प्रकार—

—हैं, जप, स्मरण और कीर्तन ! इनमे सबसे पहले जपकी बात कही जाती है। परमात्माके जिस नाममे रुचि हो, जो अपने मनको रुचिकर हो उसी नामकी परमात्माकी भावनासे बारबार आवृत्ति करनेका नाम जप है। जपकी शास्त्रोमे बड़ी महिमा है। जपको यज्ञ माना है और श्रीगीताजीमे भगवान्‌के इस कथनसे कि '*यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि*' (यज्ञोमे जपयज्ञ मैं हूँ) जपका महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है। जपके तीन प्रकार है—साधारण, उपांशु और मानस। इनमे पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर दश गुण अधिक फलदायक है। भगवान् मनु कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

दर्श-पौर्णमासादि विधियज्ञोंसे (यहाँ मनु महाराजने भी विधि-यज्ञोंसे जपयज्ञको ऊँचा मान लिया है) साधारण जप दश गुण श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौ गुण श्रेष्ठ है और मानस-जप हजार गुण श्रेष्ठ है।

जो फल साधारण जपके हजार मन्त्रोंसे होता है वही फल

उपांशु जपके सौ मन्त्रोंमे और मानस-जपके एक मन्त्रसे हो जाता है। उच्चस्वरसे होनेवाले जपको साधारण-जप कहते हैं (परन्तु यह कीर्तन नहीं है)। जिसमें जिह्वा और ओष्ठ तो हिलते हैं परन्तु शब्द अंदर ही रहता है वह उपांशु-जप है और जिसमें न जीभके हिलानेकी आवश्यकता होती है और न होठके, वह मानसिक जप कहलाता है। उच्चस्वरसे उपांशु उत्तम और उपांशुसे मानसिक उत्तम है। यह जपकी विधि है, किसी भी देवताका कैसा ही मन्त्र क्यों न हो, यह विधि सबके लिये एक-सी है। परन्तु भगवन्नाम-जपका तो कुछ विलक्षण ही फल होता है। यह नामकी अलौकिक महिमा है। दूसरे जपोंमें अनेक प्रकारके विधि-निषेध होते हैं, शुद्धि-अशुद्धिका बड़ा विचार करना पड़ता है, परन्तु भगवन्नाममें ऐसी कोई बात नहीं।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी भी अवस्थामे क्यों न हो भगवान् पुण्डरीकाक्षका स्मरण करते ही बाहर और भीतरकी शुद्धि हो जाती है। जल-मृत्तिकासे केवल बाहरकी ही शुद्धि होती है, परन्तु भगवन्नाम अन्तरके मलोंको भी अशेषरूपसे धो डालता है, इसका किसीके लिये किसी अवस्थामे भी कोई निषेध नहीं है।

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

कलिसन्तरणोपनिषद्—

—में नाम-जपकी विधि और उसके फलका बड़ा सुन्दर वर्णन है, पाठकोंके लाभार्थ उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है।

हरिःॐ। द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन् कलिं सन्तरेयमिति ॥ १ ॥

द्वापरके समाप्त होनेके समय श्रीनारदजीने ब्रह्माजीके पास जाकर पूछा कि हे भगवन्! मैं पृथ्वीकी यात्रा करनेवाला कलियुगको कैसे पार करूँ।

स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽसि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि । भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति ॥ २ ॥

ब्रह्माजी बोले कि तुमने बड़ा उत्तम प्रश्न किया है। सम्पूर्ण श्रुतियों-का जो गूढ़ रहस्य है, जिससे कलि-संसारसे तर जाओगे, उसे सुनो। उस आदिपुरुष भगवान् नारायणके नामोच्चारणमात्रसे ही कलिके पातकोंसे मनुष्य मुक्त हो सकता है।

नारदः पुनः पप्रच्छ । तन्नाम किमिति । स होवाच हिरण्यगर्भः ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम् । नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते ॥ इति षोडशकलावृतस्य पुरुषस्य आवरण-विनाशनम् ॥ ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डली-वेति ॥ ३ ॥

श्रीनारदजीने फिर पूछा कि 'वह भगवान्का नाम कौन-सा है?' ब्रह्माजीने कहा, वह नाम है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥*

---

* इस मन्त्रमें भगवान्के तीन नाम हैं 'हरि, राम और कृष्ण।'

इन सोलह नामोंके उच्चारण करनेसे कलिके सम्पूर्ण पातक नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण वेदोंमें इससे श्रेष्ठ और कोई उपाय नहीं देखनेमे आता! इन सोलह कलाओंसे युक्त पुरुषका आवरण (अज्ञानका परदा) नष्ट हो जाता है और मेघोंके नाश होनेसे जैसे सूर्यकिरण-समूह प्रकाशित होता है वैसे ही आवरणके नाशसे ब्रह्मका प्रकाश हो जाता है।

पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन् कोऽस्य विधिरिति। तं होवाच नास्य विधिरिति। सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति ॥ ४ ॥

नारदजीने फिर पूछा कि 'हे भगवन्! इसकी क्या विधि है?' ब्रह्माजीने कहा कि 'कोई विधि नहीं है। सर्वदा शुद्ध हो या अशुद्ध, नामोच्चारणमात्रसे ही सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य-मुक्ति मिल जाती है।'

यदास्य षोडशकस्य सार्धत्रिकोटिर्जपति तदा ब्रह्म-

इनमें हरि शब्दका अर्थ है—हरति योगिचेतांसीति हरिः, जो योगियोंके चित्तोंको हरण करता है वह हरि है। अथवा 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥' जैसे अनिच्छासे स्पर्श कर लेनेपर भी अग्नि जला देती है, इसी प्रकार दुष्टचित्तसे भी स्मरण किया हुआ जो हरि पापोंको हर लेता है उसे हरि कहते हैं। 'राम' शब्दका अर्थ है—'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः' जिसमें योगिगण रमण करते हैं उसका नाम राम है, अथवा 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥' जिस अनन्त चिदात्मा परब्रह्ममें योगिगण रमण करते हैं वह राम है 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है 'कर्षति योगिनां मनांसीति कृष्णः' जो योगियोंके चित्तको आकर्षण करता है वह कृष्ण है। अथवा 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥' कृषि भू याने सत्तावाचक है और ण निर्वृतिवाचक है, इन दोनोंकी एकता होनेपर परब्रह्म कृष्ण कहलाता है।

हरिःॐ। द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन् कलिं सन्तरेयमिति ॥ १ ॥

द्वापरके समाप्त होनेके समय श्रीनारदजीने ब्रह्माजीके पास जाकर पूछा कि हे भगवन्! मैं पृथ्वीकी यात्रा करनेवाला कलियुगको कैसे पार करूँ।

स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति ॥ २ ॥

ब्रह्माजी बोले कि तुमने बडा उत्तम प्रश्न किया है। सम्पूर्ण श्रुतियों-का जो गूढ़ रहस्य है, जिससे कलि-संसारसे तर जाओगे, उसे सुनो। उस आदिपुरुष भगवान् नारायणके नामोच्चारणमात्रसे ही कलिके पातकोंसे मनुष्य मुक्त हो सकता है।

नारदः पुनः पप्रच्छ। तन्नाम किमिति। स होवाच हिरण्यगर्भः।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते ॥ इति षोडशकलावृतस्य पुरुषस्य आवरण-विनाशनम् ॥ ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डली-वेति ॥ ३ ॥

श्रीनारदजीने फिर पूछा कि 'वह भगवान्का नाम कौन-सा है?' ब्रह्माजीने कहा, वह नाम है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥*

* इस मन्त्रमें भगवान्के तीन नाम हैं 'हरि, राम और कृष्ण।'

इन सोलह नामोंके उच्चारण करनेसे कलिके सम्पूर्ण पातक नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण वेदोंमे इससे श्रेष्ठ और कोई उपाय नहीं देखनेमे आता। इन सोलह कलाओंसे युक्त पुरुषका आवरण (अज्ञानका परदा) नष्ट हो जाता है और मेघोंके नाश होनेसे जैसे सूर्यकिरण-समूह प्रकाशित होता है वैसे ही आवरणके नाशसे ब्रह्मका प्रकाश हो जाता है।

पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन् कोऽस्य विधिरिति। तं होवाच नास्य विधिरिति। सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति ॥ ४ ॥

नारदजीने फिर पूछा कि 'हे भगवन्! इसकी क्या विधि है?' ब्रह्माजीने कहा कि 'कोई विधि नहीं है। सर्वदा शुद्ध हो या अशुद्ध, नामोच्चारणमात्रसे ही सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य-मुक्ति मिल जाती है।'

यदास्य षोडशकस्य सार्धत्रिकोटिर्जपति तदा ब्रह्म-

इनमें हरि शब्दका अर्थ है—हरति योगिचेतासीति हरिः, जो योगियोंके चित्तों-को हरण करता है वह हरि है। अथवा 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥' जैसे अनिच्छासे स्पर्श कर लेनेपर भी अग्नि जला देती है, इसी प्रकार दुष्टचित्तसे भी स्मरण किया हुआ जो हरि पापोंको हर लेता है उसे हरि कहते हैं। 'राम' शब्दका अर्थ है—'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः' जिसमें योगिगण रमण करते हैं उसका नाम राम है, अथवा 'रमन्ते योगि-नोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥' जिस अनन्त चिदात्मा परब्रह्ममें योगिगण रमण करते हैं वह राम है 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है 'कर्षति योगिना मनांसीति कृष्णः' जो योगियोंके चित्तको आकर्षण करता है वह कृष्ण है। अथवा 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥' कृषि भू याने सत्तावाचक है और ण निर्वृतिवाचक है, इन दोनोंकी एकता होनेपर परब्रह्म कृष्ण कहलाता है।

हत्यां तरति। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। वृषलीगमनात् पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात्। सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत्॥ ५॥

ब्रह्माजी फिर कहने लगे कि 'यदि कोई पुरुष इन सोलह नामोंके साढ़े तीन करोड जप कर ले तो वह ब्रह्महत्या, स्वर्णकी चोरी, शूद्र-स्त्री-गमन और सर्व-धर्मत्यागरूपी पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह तत्काल मुक्तिको प्राप्त होता है। तत्काल ही मुक्तिको प्राप्त होता है।'

जपकी विधि

इससे यह सिद्ध हो गया कि स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-अन्त्यज, गृही-वनवासी, शुद्ध-अशुद्ध, विद्वान्-मूर्ख कोई भी किसी भी प्रकारसे इस षोडश नामके साढ़े तीन करोड मन्त्रोंका जप कर लेता है वह समस्त महापातकों, उनके फलस्वरूप नरकों और स्वर्गादि मोक्षमार्गके प्रति-बन्धकोंसे छूटकर परमात्माके सच्चिदानन्दघन स्वरूपको अनायास ही प्राप्त हो जाता है, कितना सहज और सस्ता उपाय है? यदि मनुष्य प्रतिदिन लगभग ६५०० मन्त्रोंका जप करे (जो सोलह नामके मन्त्रकी लगभग ६१ मालाओंमें हो जाता है) तो केवल १५ वर्षमें साढ़े तीन कोटि जप-संख्या पूरी हो जाती है। यह तो साधारण जप-विधिकी बात है। उपांशु या मनमें जप हो तो बहुत ही शीघ्र सफलता मिल सकती है।

जिस परमात्माको प्राप्त करनेके लिये लाखों-करोड़ों जन्मोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जिस परमात्मसुखको पानेके लिये अनन्त जन्मोंकी साधनाकी आवश्यकता होती है, वही परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि यदि पंद्रह वर्षोंमें, घरमें रहते हुए, संसारका काम करते हुए, शास्त्रसे अविरुद्ध भोगोंको भोगते हुए मिल जाय तो फिर और क्या

चाहिये ? इससे सस्ता सौदा और क्या हो सकता है ? हम सारी उम्र बिता देते हैं थोड़े-से धन-संग्रह करनेके लोभमें। जिसका संग्रह होना न होना भी अनिश्चित रहता है। परन्तु समस्त धनोंका मूल, समग्र धनपतियोंका एकमात्र स्वामी, समस्त देव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पितृ, मनुष्य और राक्षस आदिके कुल धनकी, जिस अतुल धन-राशिके एक अंशके कोट्यंशके साथ भी तुलना नहीं की जा सकती ऐसा वह परमधन स्वयं यदि पन्द्रह वर्षकी श्रद्धायुक्त सहज साधनासे अपने अस्तित्वके साथ तुम्हारे अस्तित्वको मिला लेता है तो बताओ फिर तुम्हें और किस वस्तुकी आवश्यकता रह जाती है ? जब स्वयं सम्राट्का ही पद मिल जाय, तब छोटे-छोटे खेत तो उसमें आप ही आ जाते हैं। तुम संसारका मामूली धन चाहते हो। वह सारे खजानेका स्वामित्व ही तुम्हें सौंप देता है। फिर, मामूली धनकी प्राप्तिके लिये तो कोई गारंटी भी नहीं करता। सब समझदार लोग यों ही कहते हैं भाई! उद्योग करो तुम्हारे भाग्यमें होगा तो मिल जायगा, परन्तु इस परमधनकी प्राप्तिके लिये तो शास्त्र जिम्मा लेते हैं। ब्रह्मा स्वयं कहते हैं। इतिहास इस बातकी सत्यताका प्रमाण दे रहे हैं। भक्तोंकी गाथाएँ उच्चस्वरसे इस ध्रुव सत्यकी घोषणा कर रही हैं। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण भी मिल सकते हैं। ऐसी स्थितिमें अविश्वासकी तो कोई बात ही नहीं रह जाती।

लोग कह सकते हैं कि 'हम घरका काम करते हुए प्रतिदिन इतने मन्त्रोंका जप कैसे करें ? इतने जपमें कम-से-कम छः घंटेका समय चाहिये।' परन्तु उनका ऐसा कहना भूलसे होता है, यदि हमलोग समयका उपयोग सावधानीके साथ करें तो घर और आजीविका-के काममें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़कर भी इतना जप प्रतिदिन

हो सकता है। उस देवमन्त्रके जपमें बाधा आती है जो स्नानकर शुद्ध हो एक समय एक जगह बैठकर किया जाता है। वैसे जपमें लगातार इतना समय लगाना कठिन होता है, परन्तु इस नाम-मन्त्रके जपमें तो उस तरहकी कोई अड़चन नहीं है। चलते, फिरते, बैठते, उठते, सोते, आजीविकाका काम करते—सब समय सभी अवस्थामें यह जप हो सकता है। यदि हमलोग हिसाब लगाकर देखें तो दिन-रातके चौबीस घंटेके समयमेंसे छः घंटे निद्राके बाद देकर बाकीके अठारह घंटे केवल शरीर और आजीविकाके कार्योंमें ही नहीं व्यतीत होते। हमारा बहुत-सा समय तो असावधानीसे व्यर्थकी बातोंमें जाता है। यदि हम-लोग वाणीका संयम करना सीख जायँ, बिना मतलब, बिना कार्यके बोलना छोड़ दें तो मेरी समझसे राजासे लेकर मजदूरतक सबको इतना नाम-जप प्रतिदिन करनेके लिये पूरा समय अनायास ही मिल सकता है। हम चेष्टा नहीं करते, केवल बहाना कर देते हैं। यदि चेष्टा करें, समयका मूल्य समझें तो एक क्षणको भी हरिके नाम बिना व्यर्थ नहीं जाने दें। कामके लिये जितने बोलनेकी आवश्यकता हुई, उतने शब्द बोल दिये फिर वाणीको उसी नाम-जपमें लगा दिया। इस प्रकार अभ्यास करते रहनेपर तो ऐसी आदत पड़ जाती है कि फिर नाम-जप छूटना कठिन हो जाता है, फिर तो साधकको ऐसी प्रबल इच्छा होने लगती है कि चौबीसों घंटे नाम-जप ही किया करूँ। उसे थोड़े जपमें सन्तोष नहीं होता! जैसे बड़े जोरकी भूख या प्यास लगनेपर मनुष्यका एक-एक क्षण कष्टसे बीतता है, इसी प्रकार नाम-प्रेमीका भी जो क्षण नामके बिना जाता है वह बड़े कष्टसे बीतता है!

जप उसीका नाम है जो संख्यासे किया जाता है। जपके तीन

प्रकार पहले बतलाये जा चुके हैं। उनके सिवा साधकोंके सुभीतेके लिये और भी कई प्रकार बतलाये जाते है। जैसे—

(१) श्वासके द्वारा जप करना।

(२) नाड़ीसे जप करना।

(३) मानस-मूर्ति-पूजाकी भाँति नामाक्षरोंकी मनमे कल्पना कर उनको बारबार पढ़ना।

(४) भगवान्‌की मूर्तिकी कल्पना कर उसपर नामाक्षरोंकी गहनोंकी तरह कल्पना कर उनकी आवृत्ति करना।

अन्य भी कई प्रकार तथा भेद है, विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखे जाते। उपर्युक्त चारों प्रकारके जपका कुछ खुलासा कर देना आवश्यक है।

(१) प्रत्येक श्वासकी गतिको ओर लक्ष्य रखना और श्वासके आने तथा जानेमे श्वासके शब्दके साथ ही मन्त्रकी कल्पना करना, साथ ही जिह्वासे भी उपांशुरूपसे उच्चारण करते रहना। आरम्भमे माला रखना और श्वासके साथ होनेवाले प्रत्येक जपकी गिनती रखना। यदि इस प्रकार दो-चार मालाएँ भी प्रतिदिन जपनेका अभ्यास किया जाय तो मन बहुत शीघ्र स्थिर होकर नाममें लग सकता है। श्वासका जप बिना मनके नहीं होता। साधारण और उपांशु जप तो अभ्यास होने-पर मनके अन्यत्र रहनेपर भी हो सकते हैं, परन्तु श्वासका जप मन बिना नहीं होता, मन नहीं रहता है तो श्वासकी गतिका ध्यान छूट जाता है, केवल जीभसे जप होता रहता है। इसलिये श्वाससे जप करनेवालेको श्वासकी गतिकी ओर ध्यान रखना ही पडता है। जहाँ मन अन्यत्र गया कि जप छूटा। कबीरने कहा है—

साँसौ साँसा नाम जप, अरु उपाय कछु नाहिं।

(२) इसी प्रकार नाड़ीका जप है। नाड़ीकी गति श्वाससे भी सूक्ष्म है। हाथ, गले, मस्तक आदिकी नाडियाँ अँगुली लगानेपर चलती हुई मालूम होती हैं, अतएव पहले-पहले नाड़ीद्वारा जप करनेवालेको अँगुलियोंसे नाडीकी गतिका निरीक्षण करते हुए मनको उस गतिकी ओर लगाकर नाड़ीकी गतिके साथ ही उसके प्रत्येक ठपकेपर मन्त्रको कल्पना करनी चाहिये। जीभ और मालाका प्रयोग श्वाससे जपके समान ही करना चाहिये।

(३) आँखें मूँदकर मन्त्रके पूरे अक्षरोंकी अपने सामने आकाशमें या हृदयमे कल्पना कर उन्हें बारंबार मनसे पढ़ता रहे, साथ ही जीभका प्रयोग भी करता रहे। गिनतीके लिये हाथमें माला रक्खे। मन्त्रके अक्षर, हो सके तो बराबर मनमें बनाये रक्खे। या प्रत्येक मन्त्रके जपका आरम्भ करनेके समय कल्पना कर ले और मन्त्र पूरा होते ही मिटा दे। जिस तरीकेमें सुभीता मालूम हो वही करे।

(४) मनकी रुचिके अनुसार भगवान्‌की किसी मूर्तिकी मनमे कल्पना कर मूर्तिके चरणोंमें या गलेकी मालामे या मस्तकमें, मुकुटमें या हस्त-पदादि अङ्गोंपर जड़े हुए नगीनोंके गहनोंके रूपमे मन्त्रके चमकते हुए सुन्दर अक्षरोंकी कल्पना कर आँखें मूँदे हुए उनका बारंबार मनसे जप करता रहे। और सब बातें तीसरेके समान ही करे।

योगदर्शनकार कहते हैं—'*तज्जपस्तदर्थभावनम्*' उसके वाचक प्रणवका जप करता हुआ उसके वाच्य नामीकी—ईश्वरकी भावना करे। वाणीसे जप और मनमें ध्यान दोनोंका एक साथ होना बहुत ही उत्तम साधन है। भगवान्‌ने भी यही कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
(गीता ८। १३)

'जो इस ॐरूप एकाक्षर नाम-ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और नामी मुझ परमात्माको स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है।'

मनमें भगवान्‌की मूर्तिका, भगवद्भावका या भगवन्नामका ध्यान-स्मरण करते हुए जीभसे जप करना सर्वोत्तम जप है, इसीके अन्तर्गत उपर्युक्त चारों प्रकार भी हैं। इससे उतरकर उपांशु और उससे उतरकर साधारण (जोर-जोरसे उच्चारण करते हुए जप करना) है, जिसको जो सुलभ, सुविधाजनक और रुचिकर प्रतीत हो, वह उसीका अभ्यास करे। भगवन्नाम ऐसी वस्तु है जो किसी भी प्रकारसे ग्रहण करनेपर भी मङ्गलप्रद ही है। भगवन्नाम-जपमें रुचि और विश्वास होना चाहिये, फिर बेडा पार है। इतना स्मरण रखना चाहिये कि जो जप निष्काम-भावसे, नामीके ध्यानसे युक्त, प्रेमसहित, निरन्तर और गुप्त होता है वही उत्तम-से-उत्तम समझा जाता है, अतएव यथासाध्य कुछ मालाएँ (कम-से-कम १४ मालाएँ) प्रतिदिन जपनी चाहिये। नियमसे जो काम होता है वह अनियमसे नहीं होता।

यदि निष्कामभाव न आ सके तो विश्वास रखकर सकामभावसे ही जप करना चाहिये। भगवन्नाम-जपकी महिमासे आगे चलकर सकाम भी निष्काम हो सकता है। प्रातःस्मरणीय भक्तराज ध्रुवजीने राज्यकी इच्छासे वनमें जाकर ध्यानसहित मन्त्र-जप किया। उन्हें राज्य भी मिला और भगवान्‌का परमधाम भी। उन्हे सिद्धि भी बहुत शीघ्र मिली। थोड़े-से ही समयमें काम बन गया, इतना सब क्यों हो गया? इसी-लिये कि ध्रुव दृढ़ विश्वासी था। जिस समय मातासे उसे उपदेश मिला उसी समय बालक ध्रुव घरसे निकल पड़ा। रास्तेमें भगवान् नारद मिले।

उन्होंने सहजमें राज्य दिलवानेका लोभ और वनके भीषण कष्टोंका भय दिखलाकर ध्रुवकी परीक्षा की, जब उसे पक्का पाया तब नारदजीने दया कर उसे भगवन्नामका मन्त्र दे दिया। ध्रुव दृढ़ निश्चयके साथ तन-मन-की सारी सुधि भुलाकर मन्त्रका जप करने लगा। भगवद्भावसे उसके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ा! साक्षात् नारायणको उसके सामने मूर्तिमान् होकर प्रत्यक्ष दर्शन देना पड़ा। आज हमलोगोंको भगवद्दर्शनमें जो देरी हो रही है इसका कारण यही है कि हमें नामपर पूरा विश्वास नहीं है। जितने अंशमें विश्वास है उतने अंशमें सिद्धि भी होती ही है!

भक्तराज श्रीहरिदासजी बड़े जोर-जोरसे उच्चारण करके नाम-जप किया करते थे। तीन लाख नामजपका उनका नियम था। रामचन्द्रखाँ-की भेजी हुई वेश्या उन्हें डिगाने आयी। परन्तु तीन रात्रितक हरिदासजी-के पवित्र मुखारविन्दसे निकली हुई परम पुनीत हरिध्वनिको सुनकर स्वयं पापपथसे डिग गयी और उसी क्षण दुराचार छोड़कर परम वैष्णवी बन गयी। तात्पर्य यह कि विश्वास और प्रेमके साथ नाम-जप होना चाहिये। किसी प्रकार हो! नामका फल अमोघ है!

स्मरण

स्मरण जपके साथ भी रहता है और अलग भी। यों तो पहले स्मृति हुए बिना न जप होता है और न कीर्तन होता है, परन्तु बीचमें स्मरण छूट जानेपर भी जप और कीर्तन होते रहते हैं। जीभका अभ्यास हो जानेपर जप होता रहता है। ठीक मन्त्रोंके अनुसार ही मालाकी मणियों-पर भी हाथ चलता रहता है परन्तु स्मरण नहीं रहता। स्मृति मनकी वृत्ति है। वाणी अभ्यासवश एक काम करती है, मन उस समय किसी दूसरी स्मृतियोंमें रमता रहता है। इसीलिये भगवान्‌ने मनसहित वाणीके

जपको उत्तम बतलाया। जिस जपमे नामीकी मूर्ति, उसके गुण, उसके भाव या नामकी स्मृति रहती है वह जप स्मरण-युक्त कहलाता है। जो जप केवल जिह्वासे होता है वह जप स्मरण-रहित कहा जाता है। स्मरण-रहितकी अपेक्षा स्मरण-युक्तका माहात्म्य अधिक है। क्योंकि उसमे मन-वाणी दोनों एक काम करते है। महात्मा पुरुषोके वचन हैं कि जिसकी जबान और मन दोनों एक-से होते हैं वही सच्चा साधु है। स्मरणयुक्त जपमे जबान और मन दोनोंकी एकतानता हो जाती है। इसीलिये उसका फल इतना विशेष है, परन्तु स्मरण ऐसा भी होता है जो केवल स्मरण ही कहलाता है, जप नहीं। जप वही होता है जिसकी संख्या होती है। स्मरणकी कोई संख्या नहीं होती। जहाँतक स्मरणका पूरा अभ्यास न हो वहाँतक तो स्मरण-युक्त जप ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये, परन्तु जब स्मरणका पूरा अभ्यास हो जाय तब फिर जपकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे अनन्य स्मरणकी विधि और उसका फल श्रीभगवान् बतलाते हैं—

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
>
> (गीता ८। १४)

'जो पुरुष अनन्यचित्त होकर सदा-सर्वदा मुझे स्मरण करता है उस मुझे निरन्तर स्मरण करनेवाले योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।' चित्तमें दूसरे विषयको कभी स्थान न हो, प्रतिदिन और प्रतिक्षण उसीकी स्मृति बनी रहे। इस प्रकार नित्य लगे रहनेवालेके लिये भगवान् सहज (सस्ते) हो जाते हैं, परन्तु इस स्मरणका रूप कैसा होता है? भक्त-राज कबीरजी कहते हैं—

सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे कामी काम।
एक पलक ना बीसरै, निसिदिन आठों याम॥
सुमिरनकी सुधि यों करो, ज्यों सुरभी सुत माँहि।
कह कबीर चारो चरत, बिसरत कबहूँ नाँहि॥
सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे दाम कँगाल।
कह कबीर बिसरे नहीं, पल-पल लेत सम्हाल॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे नाद कुरंग।
कह कबीर बिसरे नहीं, प्रान तजै तेहि संग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्रान तजै छिन एकमें, जरत न मोड़ै अंग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसारे आपको, होय जाय तेहि रंग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे पानी मीन।
प्रान तजै पल बीछुड़े, सत कबीर कह दीन॥

'जैसे कामी आठ पहरमें एक क्षणके लिये भी स्त्रीको नहीं भूलता, जैसे गौ वनमे घास चरती हुई भी बछड़ेको सदा याद रखती है, जैसे कंगाल अपने टेंटके पैसेको पल-पलमे सम्हाला करता है, जैसे हरिण प्राण दे देता है परन्तु वीणाके स्वरको नहीं भूलना चाहता, जैसे विना सकोचके पतङ्ग दीपशिखामे जल मरता है परन्तु उसके रूपको भूलता नहीं, जैसे कीड़ा अपने आपको भुलाकर भ्रमरके स्मरणमे उसीके रंगका वन जाता है और जैसे मछली जलसे विछुड़नेपर प्राण त्याग कर देती है परन्तु उसे भूलती नहीं!' गोसाईंजी महाराजने भी कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

स्मरणका यह स्वरूप है।

इस प्रकार जिनका मन उस परमात्माके नाम-चिन्तनमें रम जाता है वे तृप्त, पूर्णकाम और अकाम हो जाते हैं। उन्हें किसी भी वस्तुकी इच्छा अवशेष नहीं रह जाती।

भगवान्‌ने कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'जिसने अपना चित्त मुझमें अर्पित कर दिया है, वह मुझे छोड़कर ब्रह्माजीका पद, स्वर्गका राज्य, समस्त भूमण्डलका चक्रवर्तित्व, पातालादि देशोंका आधिपत्य, अणिमादि योगकी सिद्धियाँ तथा मोक्ष, कुछ भी नहीं चाहता!'

यहाँपर कोई कह सकते हैं कि यह तो नामीके स्मरणकी कथा है। यहाँ नामकी कौन-सी बात है? इसका उत्तर यह है कि नामसे ही नामीका पता लगता है, हम यदि अपने पिताके स्वरूपका स्मरण करते हैं तो 'पिता' इस सम्बन्ध-नामका स्मरण पहले होता है, नाम विना नामीकी कल्पना ही नहीं हो सकती। नाम ही नामीका परिचय कराता है। गोसाईंजीने बहुत ही सुन्दर कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥

रूप नामके अधीन ही देखा जाता है। किसीके हाथमें हीरा है, परन्तु जबतक उस हीरेको वह हीरा नहीं समझता तबतक उसे रूपका ज्ञान नहीं होता। रूपका ज्ञान हुए विना वह उसका मूल्य

नहीं जानता। जब किसी जौहरीसे उसका नाम 'हीरा' जान लेता है तभी उसे उसकी बहुमूल्यताका ज्ञान होता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि नामका स्मरण हुए बिना नामीका ज्ञान नहीं होता। नामका कुछ दिनोंतक स्मरण करनेपर, साधकके अन्तरमें जो एक आनन्दका सरोवर बँधा पड़ा है उसका बाँध टूट जाता है, वह सुखकी प्रबल धारामें बह जाता है। उस समय उस रामरसके सामने उसे सब रस फीके मालूम होने लगते हैं। वह जोरसे पुकार उठता है कि—

पायो नाम चारु चिन्तामनि उर करतें न खसैहौं।

नामकी सुन्दर चिन्तामणि मुझे मिल गयी। अब मैं इसे हृदय और हाथोंसे कभी न जाने दूँगा। वह ऐसा क्यों कहता है? इसीलिये कि उसे इसमें वह सुख मिलता है जो बड़े-बड़े विषयी सम्राटोंको भी नसीब नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १२)

'मुझमें चित्त लगानेवाला और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोड़नेवाले भक्तको मुझसे जो परम सुख मिलता है, वह सुख विषयासक्तचित्त लोगोंको कहाँसे मिल सकता है?'

मन जितना ही विषयोंका चिन्तन करता है उतना ही संसारमें बँधता है, क्योंकि विषय-चिन्तनसे ही क्रमशः सङ्ग, काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और अन्तमें सर्वनाश होता है। मनमें पहले-पहले जब स्फुरणा उठती है तो वह तरङ्गके सदृश होती है, परन्तु वही आगे जाकर समुद्र बन जाती है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले लोगोंको चाहिये कि वे मनमें विषयोंके बदले धीरे-धीरे भगवान्को स्थान दें।

उपर्युक्त युक्तियोंके द्वारा नाम-स्मरण करें। एक दृढ़ अभ्यासका नाश करनेके लिये उसके विरोधी दूसरे अभ्यासकी ही आवश्यकता होती है। अनभ्यस्त विषयके चिन्तनमे पहले-पहले मन ऊबता, अकुलाता और झल्लाता है, परन्तु दृढ़ताके साथ अभ्यास करते रहनेपर अन्तमे वह तदाकार बन ही जाता है। इसलिये हठसे भी मनको परमात्माके नाम-स्मरणमे लगाना चाहिये। नियम कर लेना चाहिये कि मनसे इतने नाम-जप प्रतिदिन अवश्य करेंगे। कम-से-कम उतना जप तो प्रतिदिन हो ही जाना चाहिये। स्मरणसे ही मनमें प्रेमकी उत्पत्ति होती है। एक स्त्री अपने नैहरमे है, उसका पति वहाँ नहीं है। पतिका रूप उसके सामने नहीं है परन्तु पतिका नाम-स्मरण होते ही उसका मन प्रेमसे भर जाता है।

नाम-स्मरण करते-करते जब स्मरणकी बान पड जाती है तब तो मन कभी उसे छोड़ता ही नहीं। स्मरणसे क्या नहीं होता? यदि अन्तकालमें परमात्माके नामका स्मरण हो जाय तो उसके मोक्षमे जरा-सा भी सन्देह नहीं रह जाता। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'जो पुरुष मृत्युकालमे मुझे स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह मुझे ही प्राप्त होता है, इसमे कोई सन्देह नहीं।' परन्तु अन्तकालमें परमात्माकी स्मृति किसे होती है जो *'सदा तद्भावभावितः'* होता है, अर्थात् सदा जिस भावका चिन्तन करता है अन्तकालमे भी प्रायः उसीका स्मरण हुआ करता है। इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि हे पार्थ!—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

'तू सदा-सर्वदा मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर, इस प्रकार मुझमे मन-बुद्धि अर्पित हो जानेसे तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा!'

ब्राह्मण हो तो वेदाध्ययन करे, क्षत्रिय हो तो रणमे जाय, वैश्य हो तो व्यापार करे, शूद्र हो तो सेवा करे। सब अपना-अपना काम करें, परन्तु करें उसे याद रखते हुए। वैसे ही जैसे कि दुराचारिणी उपपतिको, सती पतिको, कृपण धनको और विषयी विषयको निरन्तर याद रखता है। पनिहारी सिरपर दो घडे उठाकर चलती है, रास्तेमे दूसरोसे बात भी करती है; परन्तु उसकी स्मृति रहती है सिरपर उठाये हुए उन दोनो घड़ोंमे। इस प्रकार क्षणमात्रके स्मरणसे ही बड़ा काम होता है। आजकल लोग माला फेरते हैं, हाथ रहता है गौमुखीमे, परन्तु मन डोला करता है विषयोंमें! मन्त्र-जपमे गौणता होती है और विषयोंमे मुख्यता, इसीसे जप करते-करते बीच-बीचमे वे बोल उठते हैं।

एक सेठजी जप कर रहे थे, माला हाथमें थी, मुँहसे भी मन्त्रका उच्चारण करते थे; परन्तु उनका मन और ही अनेक बातोंके चिन्तनमें लगा हुआ था। पुत्र भी पास बैठा सन्ध्या कर रहा था। सेठजी माला फेरते-फेरते ही बीचमे बोल उठे—'अरे! कल सब ग्राहकोंके रुपये आ गये? राम राम राम राम। देख! तू बड़ा मूर्ख है, कहीं व्यापारमें भी सचाईसे कमाई होती है? राम राम राम राम। हाथीके दाँत दिखानेके दूसरे और खानेके दूसरे होते है—राम राम राम राम। नहीं तो व्यापारमे रस-कस कैसे बैठे? राम राम राम राम। माप-तौलमें जरा कस बैठना

चाहिये—राम राम राम राम । मैं तो मर जाऊँगा फिर तेरा काम कैसे चलेगा ? राम राम राम राम ।'

इस तरह रामनाम करनेवाले ढोंगी लोगोंके कारण ही नामपर लोगोंकी रुचि घटती है । परन्तु नामप्रेमियोंको इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिये । यदि कोई मूर्ख रत्नका दुरुपयोग भी करता है तो इससे रत्नका रत्नपना और उसकी बहुमूल्यता थोड़े ही घट जाती है ? कहनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्मरण सच्चा होनेसे ही शीघ्र फलप्रद होता है ।

स्मरणके बाद आता है—

कीर्तन

कीर्तन जोर-जोरसे होता है और इसमे संख्याका कोई हिसाब नहीं रक्खा जाता । यही जप और कीर्तनमें भेद है । जप जितना गुप्त होता है उतना ही उसका अधिक महत्त्व है, परन्तु कीर्तन जितना ही गगनभेदी स्वरमे होता है उतना ही उसका महत्त्व बढ़ता है । कीर्तनके साथ सङ्गीतका सम्बन्ध है । कीर्तनमे पहले-पहले स्वरोंकी एकतानता करनी पडती है । कीर्तनके कई प्रकार हैं ।

(१) अकेले ही भगवान्‌के किसी नामको आर्तभावसे पुकार उठना । जैसे द्रौपदी और गजराज आदिने पुकारा था ।

(२) अकेले ही भगवान्‌के गुणनाम, कर्मनाम, जन्मनाम और सम्बन्ध-नामोंका विस्तारपूर्वक या संक्षेपमें जोर-जोरसे उच्चारण करना ।

(३) भगवान्‌के किसी चरित्र या भक्तचरित्रके किसी कथाभागका गान करना और बीच-बीचमे नामकीर्तन करना ।

(४) कुछ लोगोंका एक साथ मिलकर प्रेमसे भगवन्नाम-गान करना ।

(५) अधिक लोगोंका एक साथ मिलकर एक स्वरसे नामकीर्तन करना ।

इसके सिवा और भी अनेक भेद हैं। जब मनुष्य किसी दुःखसे घबड़ाकर जगत्‌के सहायकोसे निराश होकर भगवान्‌से आश्रय-याचना करता हुआ ज़ोरसे उसका नाम लेकर पुकारता है तब भगवान् उसी समय भक्तकी इच्छाके अनुकूल स्वरूप धारण कर उसे दर्शन देते और उसका दुःख दूर करते हैं। श्रीभगवान्‌के रामावतार और कृष्णावतारमें असुरोंके द्वारा पीडित सुर-मुनियोंने मिलकर पहले आर्तस्वरसे कीर्तन ही किया था।

जिस समय एकवस्त्रा देवी द्रौपदी कौरवोंके दरबारमे केश पकड-कर लायी जाती है, दुर्योधन उसके वस्त्रहरणके लिये अमित बलशाली दुःशासनको आज्ञा देता है, उस समय द्रौपदीको यह कल्पना ही नहीं होती कि इस बडे-बूढ़े धर्मज्ञ विद्वान् और वीरोंकी सभामें ऐसा अन्याय होगा! परन्तु जब दुःशासन सचमुच वस्त्र खींचने लगता है तब द्रौपदी घबडाकर राजा धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य आदि तथा अपने वीर पॉच पतियोकी सहायता चाहती है; परन्तु भिन्न-भिन्न कारणो-से जब कोई भी उस समय द्रौपदीको छुडानेके लिये तैयार नहीं होता तब वह सबसे निराश हो जाती है। सबसे निराश होनेके बाद ही भगवान्‌की अनन्य स्मृति हुआ करती है। दुःशासन बड़े जोरसे साड़ी खींचता है। एक झटका और लगते ही द्रौपदीकी लज्जा जा सकती है। द्रौपदीकी उस समयकी दीन अवस्था हमलोगोंकी कल्पनामे भी पूरी नहीं आ सकती! महलोंके अदर रहनेवाली एक राजरानी, पृथ्वीके सबसे बड़े पॉच वीरोंद्वारा रक्षिता कुलरमणी रजस्वला-अवस्थामे बडे-बूढे तथा वीर पतियोंके सामने नगी की जाती हो, उस समय उसको कितनी मर्मवेदना होती है इस बातको वही जानती है। कवियोंकी कलम शायद

कुछ कल्पना करे। खैर, द्रौपदीने निराश होकर भगवान्का स्मरण किया और वह व्याकुल होकर पुकार उठी—

> गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
> कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
> हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
> कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
> कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
> प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
> (महा० सभा० ६७। ४१-४४)

'हे द्वारकावासी गोविन्द! हे गोपीजनप्रिय कृष्ण! क्या मुझ कौरवोंसे घिरी हुईको तू नहीं जानता? हे नाथ, रमानाथ, व्रजनाथ, दुःखनाशक जनार्दन! मुझ कौरवरूपी समुद्रमे डूबी हुईका उद्धार कर! हे विश्वात्मा विश्वभावन कृष्ण! हे महायोगी कृष्ण! कौरवोंके बीचमें हताश होकर तेरे शरण आनेवाली मुझको तू बचा!'

व्याकुलतापूर्ण नामकीर्तनका फल तत्काल होता है, जब सबकी आशा छोड़कर केवलमात्र परमात्मापर भरोसा कर उसे एक मनसे कोई पुकारता है तब वह करुणासिन्धु भगवान् एक क्षण भी निश्चिन्त और स्थिर नहीं रह सकता। उसे भक्तके कामके लिये दौड़ना ही पड़ता है। नामकी पुकार होते ही द्रौपदीके वस्त्रोंमें भगवान् आ घुसे, वस्त्रावतार हो गया। वस्त्रका ढेर लग गया। दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाली वीर दुःशासनकी भुजाएँ फटने लगीं—'*दस हजार गज बल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर!*' भक्त सूरदास कहते हैं—

> **दुःसासनकी भुजा थकित भइ बसनरूप भये स्याम।**

साड़ीका छोर न आया! एक कवि कहते हैं—

> **पाय अनुसासन दुसासन कै कोप धायो,**
> **द्रुपदसुताको चीर गहे भीर भारी है।**

भीषम, करन, द्रोन बैठे व्रतधारी तहाँ,
कामिनीकी ओर काहू नेक ना निहारी है ॥
सुनिकै पुकार धाये द्वारकाते जदुराई,
बाढ़त दुकूल खैंचे भुजबल भारी है।
सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है, कि
सारी ही कि नारी है कि नारी ही कि सारी है ॥

दु:शासन थककर मुँह नीचा करके बैठ गया, द्रौपदीकी लाज और उसका मान रह गया। भगवन्नाम-कीर्तनका फल प्रत्यक्ष हो गया!

जय भगवान्‌के पावन नामकी जय!

इसी प्रकार गजराजकी कथा प्रसिद्ध है। वहाँ भी इसी तरहकी व्याकुलतापूर्ण नामकी पुकार थी! यदि आज भी कोई यों ही सच्चे मनसे व्याकुल होकर पुकारे तो यह निश्चय है कि उसके लोक-परलोक दोनोंकी सिद्धि निश्चितरूपेण हो सकती है। इस बातका कई लोगोंको कई तरहका प्रत्यक्ष अनुभव है। अतएव प्रात:काल, सायंकाल, रातको सोते समय भगवन्नामका कीर्तन अवश्य करना चाहिये। जहाँतक हो सके कीर्तन निष्काम एवं केवल प्रेमभावसे ही करना उचित है।

यह तो व्यक्तिगत नामकीर्तनकी बात हुई। इसके बाद समुदायमें नामकीर्तनका तरीका बतलाया जाता है। महाराष्ट्र और गुजरातप्रान्तमें कीर्तनकारोंके अलग समुदाय हैं जो हरिदास कहलाते हैं। ये लोग समय-समयपर मन्दिरों, धर्मसभाओं और उत्सवोंके अवसरपर बुलाये जाते हैं, इनका कीर्तन बड़ा सुन्दर होता है। भगवान्‌की किसी लीला-कथाको या भक्तोंके किसी चरित्रको लेकर यह लोग कीर्तन करते हैं। आरम्भमें किसी भक्तका कोई एक श्लोक या पद गाते हैं और उसीपर उनका सारा कीर्तन चलता है, अन्तमें उसी श्लोक या पदके साथ कीर्तन समाप्त

किया जाता है। आरम्भमें, अन्तमें और बीच-बीचमें हरिनामकी धुन लगायी जाती है जिसमें श्रोतागण भी साथ देते हैं। ये लोग गाना-बजाना भी जानते हैं और कम-से-कम हार्मोनियम तथा तबलोंके साथ इनका कीर्तन होता है। बीच-बीचमें सुन्दर पद भी गाते हैं। इसमें दोष यही है कि इस प्रकारके अधिकांश कीर्तनकारोंका ध्यान भगवन्नामकी अपेक्षा सुर-अलापकी तरफ अधिक रहता है। गुजरातमें विवाहके अवसरपर एक दिन हरिकीर्तन करानेकी प्रथा है जो बड़ी सुन्दर मालूम होती है। अन्य अनेक प्रमादोंमें धनका नाश किया जाता है, वहाँ यदि इस प्रथाका प्रचार किया जाय तो लोगोंके मनोरञ्जनके साथ-ही-साथ बड़ा पारमार्थिक लाभ भी हो सकता है। यह भी एक तरहका सङ्घ-कीर्तन है।

इसके बाद वह कीर्तन आता है जो सर्वश्रेष्ठ है। जिसका इस युगमें विशेष प्रचार महाप्रभु श्रीश्रीगौराङ्गदेवजीकी कृपासे हुआ। इस कीर्तनका प्रकार यह है। बहुत-से लोग एक स्थानपर एकत्रित होते हैं। एक आदमी एक बार पहले बोलता है, उसके पीछे-पीछे और सब बोलते हैं, पर आगे चलकर सभी एक साथ बोलने लगते हैं। किसी एक नामकी धुनको सब एक स्वरसे बोलते हैं। ढोल, करताल, झाँझ और तालियाँ बजाते हुए गला खोलकर लज्जा छोड़कर बोलते हैं। जब धुन जम जाती है तब स्वरका ध्यान आप ही छूट जाता है। कीर्तन करनेवाला दल धुनमें मस्त हो जाता है। फिर कीर्तनकी मस्तीमें नृत्य आरम्भ होता है। रग-रग नाचने लगती है, आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगती है, शरीरज्ञान नष्ट हो जाता है। नवद्वीप, वृन्दावन, अयोध्या और पण्ढरपुरमें ऐसे कीर्तन बहुत हुआ करते हैं। यह कीर्तन किसी एक स्थानमें भी होता है और घूमते हुए भी होता है। लेखकका विश्वास

है कि ऐसे प्रेमभरे कीर्तनमे कीर्तनके नायक भगवान् स्वय उपस्थित रहते हैं। उनका यह प्रण है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(आदिपु० १९। ३५)

'मै वैकुण्ठमे या योगियोंके हृदयमे नहीं रमता। मेरे भक्त जहाँ मिलकर मेरा गान करते हैं मैं वही जाता हूँ।'

इस प्रकारके कीर्तनमे प्रेमका सागर उमडता है, जो जगत्भरको पावन कर देता है। इस कीर्तनमे ब्राह्मण-चाण्डाल सभी शामिल हो सकते हैं। जिसको प्रेम उपजा, वही सम्मिलित हो गया, कोई रुकावट नहीं। *'जाति पाँति पूछै नहि कोई। हरिको भजै सो हरिका होई॥'* वही बडा है, वही श्रेष्ठ है जो प्रेमसे नामकीर्तनमें मतवाला होकर स्वयं पावन होता है और दूसरोंको पावन करता है। इस कीर्तनसे एक बड़ा लाभ और होता है। हरिनामकी तुमुल ध्वनि पापी, पतित, पशु, पक्षीतकके कानोंमें जाकर सबको पवित्र और पापमुक्त करती है। जिसके श्रवण-रन्ध्रसे भगवन्नाम उसके हृदयके अंदर चला जाता है उसीके पापमलको वह धो डालता है।

वामनपुराणका वचन है—

नारायणो नाम नरो नराणां
प्रसिद्धचौरः कथितः पृथिव्याम्।
अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं
हरत्यशेषं श्रुतमात्र एव॥

'पृथ्वीमें नारायण-नामरूपी नर प्रसिद्ध चोर कहा जाता है, क्योंकि वह कानोंमें प्रवेश करते ही मनुष्योंके अनेक जन्मार्जित पापोंके सारे सञ्चयको एकदम चुरा लेता है!'

जिस हरि-नाम-कीर्तनका ऐसा प्रताप है, जो पुरुष जीभ पाकर भी उसका कीर्तन नहीं करते वे निश्चय ही मन्दभागी है—

जिह्वां लब्ध्वापि यो विष्णु कीर्तनीयं न कीर्तयेत्।
लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणीं स नारोहति दुर्मतिः॥

'जो जिह्वाको पाकर भी कीर्तनीय भगवन्नामका कीर्तन नहीं करते, वे दुर्मति मोक्षकी सीढ़ियोंको पाकर भी उनपर चढ़नेसे वञ्चित रह जाते हैं।'

कुछ लोग कहा करते हैं कि हमें जोर-जोरसे भगवन्नाम लेनेमें सकोच होता है। मैंने ऐसे बहुत-से अच्छे-अच्छे लोगोंको देखा है कि जिन्हें पाँच आदमियोंके सामने या रास्तेमें हरिनामकी पुकार करनेमें लज्जा आती है। झूठ बोलनेमें, कठोर वाणीके प्रयोगमें, परनिन्दा-परचर्चामें, अनाचार-व्यभिचारकी बातें करनेमें लज्जा नहीं आती, परन्तु भगवन्नाममें लज्जा आती है। यह बड़ा ही दुर्भाग्य है! यदि भगवन्नामसे सभ्यतामें बट्टा लगता हो तो ऐसी विषमयी शुष्क सभ्यताको दूरसे ही नमस्कार करना चाहिये! धन्य वही है जिसके भगवन्नामके कीर्तनमात्रसे, श्रवण और स्मरणमात्रसे रोमाञ्च हो जाता है, नेत्रोंमें आँसू भर आते हैं, कण्ठ रुक जाता है। वास्तवमें वही पुरुष मनुष्य-नामके योग्य है। ऐसे पुरुष ही जगत्को पावन करते हैं। भगवान् कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२४)

जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय द्रवित हो जाता है, जो बारबार ऊँचे स्वरसे नाम ले-लेकर मुझे पुकारता है, कभी रोता

है, कभी हँसता है और कभी लज्जा छोड़कर नाचता है, ऊँचे स्वरसे मेरा गुणगान करता है, ऐसा भक्तिमान् पुरुष अपनेको पवित्र करे इसमें तो बात ही क्या है; परन्तु वह अपने दर्शन और भाषणादिसे जगत्को पवित्र कर देता है।'

यही कारण था कि कीर्तन-परायण भक्तराज नारदजी और श्रीगौराङ्गदेव आदिके दर्शन और भाषण आदिसे ही अनेकों जीवोंका उद्धार हो गया।

महाप्रभुके कीर्तनको सुनकर वनमें रहनेवाले भीषण सिंह, भालू आदि हिंस्र पशु भी प्रेममे निमग्न होकर नामकीर्तन करते हुए नाचने लगे थे! भगवान् कहते हैं हे अर्जुन—

गीत्वा तु मम नामानि नर्तयेन्मम सन्निधौ।
इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन॥

'जो मेरे नामोका गान करता हुआ मुझे अपने समीप मानकर मेरे सामने नाचता है, मैं सत्य कहता हूँ कि मैं उसके द्वारा खरीदा जाता हूँ।'

कीर्तनकी महिमा क्या कही जाय? जो कभी कीर्तन करता है उसी भाग्यवान्को इसके आनन्दका पता है। जिसको यह आनन्द प्राप्त करना हो वह स्वयं करके देख ले। वाणी इस आनन्दके रूपका वर्णन नहीं कर सकती। क्योंकि यह *'मूकास्वादनवत्'* गूँगेके गुडके समान केवल अनुभवकी वस्तु है।

यहाँतक बहुत संक्षेपसे नाम, जप, स्मरण और कीर्तनसम्बन्धी कुछ बातें कही गयीं। साधकोंके सुभीतेके लिये यह भेद-कल्पना है। नहीं तो जप, स्मरण या कीर्तन सब एक ही वस्तु है। श्रीभगवान्के परम पावन नामका किसी तरहसे भी ग्रहण हो, वह कल्याणकारी है।

नामके ही प्रतापसे प्रह्लादने जड़मेंसे चेतनरूप होकर भगवान्‌को अवतार लेनेके लिये बाध्य कर दिया। नामके प्रतापसे ही वह अग्नि, साँप आदिसे बच गया, जहर पीकर भी नहीं मरा। नामके ही प्रतापसे मीराके लिये जहर हरि-चरणामृत हो गया। नामके ही प्रतापसे नारद, व्यास, शुकदेवादि जगत्-पूज्य हैं। नामके ही प्रतापसे ब्रह्माजी सृष्टि रचनेमें समर्थ हुए। नामके प्रतापसे ही पानीपर पत्थर तर गये। नामके ही प्रतापसे हनूमान्‌जी चार सौ योजनका सागर अल्पायाससे लाँघ गये। नामके ही प्रतापसे श्रीशंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, चैतन्य आदि आचार्योंने भगवद्भावको प्राप्त किया और उसीके प्रतापसे आज उनके शिष्य और वंशज पूजित हो रहे हैं। नामकी महिमा कहाँतक कही जाय! शेष, महेश, गणेश, शारदा भी जिसका वर्णन नहीं कर सकते, उसका वर्णन मैं क्षुद्रमति क्या करूँ? जो एक बार नामका मजा चख लेता है, वह पागल हो जाता है, उसके सारे पाप-ताप मिट जाते हैं। वह स्वयं मुक्त होकर दूसरोंके लिये मुक्तिका मार्ग प्रशस्त कर देता है। संतोंने इसीके बलसे जनताको मुक्तिकी राह बतलानेमें सफलता प्राप्त की थी। नाम ही जीवन है, नाम ही धन है, नाम ही परिवार है, नाम ही इज्जत है, नाम ही कीर्ति है, नाम ही स्वर्ग है, नाम ही अमृत है।

न नामसदृशं ज्ञानं न नामसदृशं व्रतम्।
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशं फलम्॥
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशः शमः।
न नामसदृशं पुण्यं न नामसदृशी गतिः॥
नामैव परमा मुक्तिर्नामैव परमा गतिः।
नामैव परमा शान्तिर्नामैव परमा स्थितिः॥

नाम्नैव परमा भक्तिर्नाम्नैव परमा मतिः।
नाम्नैव परमा प्रीतिर्नाम्नैव परमा स्मृतिः॥
नाम्नैव कारणं जन्तोर्नाम्नैव प्रभुरेव च।
नाम्नैव परमाराध्यो नाम्नैव परमो गुरुः॥

'नामके समान न ज्ञान है, न व्रत है, न ध्यान है, न फल है, न दान है, न शम है, न पुण्य है और न कोई आश्रय है। नाम ही परम मुक्ति है, नाम ही परम गति है, नाम ही परम शान्ति है, नाम ही परम निष्ठा है, नाम ही परम भक्ति है, नाम ही परम बुद्धि है, नाम ही परम प्रीति है, नाम ही परम स्मृति है, नाम ही जीवका कारण है, नाम ही प्रभु है, नाम ही परम आराध्य है और नाम ही परम गुरु है।' भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन—

नामयुक्ताञ्जनान्दृष्ट्वा स्निग्धो भवति यो नरः।
स याति परमं स्थानं विष्णुना सह मोदते॥
तस्मान्नामानि कौन्तेय भजस्व दृढमानसः।
नामयुक्तः प्रियोऽस्माकं नामयुक्तो भवार्जुन॥

'नामयुक्त पुरुषोंको देखकर जो मनुष्य प्रसन्न होता है वह परम धामको प्राप्त होकर मुझ विष्णुके साथ आनन्द करता है। अतएव हे कौन्तेय! दृढ चित्तसे नामभजन करो। नामयुक्त व्यक्ति मुझे बड़ा प्रिय है। हे अर्जुन! तुम नामयुक्त होओ।'

यदि भारतीय हिंदू-जातिमें कभी एकता हो सकती है, यदि जगत्-का सारा आस्तिक-समाज कभी प्रेमके एक सूत्रमें बँध सकता है, यदि कभी जगत्‌में विश्वप्रेमका पूरा प्रसार हो सकता है तो मेरी समझसे वह भगवन्नामसे ही सम्भव है! आज भगवान्‌को भूलकर लोग कार्य करते हैं इसीलिये तो उन्हें सफलता नहीं मिलती। मैं तो सबसे यही प्रार्थना

करता हूँ कि वैर-विरोध, हिंसा-मत्सर, काम-क्रोध, असत्य-स्तेयका यथा-साध्य परित्याग कर, सब श्रीभगवन्नामके साधनमें लग जायँ। मेरी समझमें इसीसे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। (१) नामप्रेमियोंका सङ्ग, (२) प्रतिदिन नाम-जपका कुछ नियम, (३) भोगोंमें वैराग्यकी भावना और (४) संतोंके जीवनचरित्रका अध्ययन—ये नाम-साधनमें बड़े सहायक होते हैं। इन चारोंकी सहायतासे नाम-साधनमें सभीको लगना चाहिये। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि नाममें असम्भव भी सम्भव हो सकता है और इसके साधनमें किसीके लिये कोई रुकावट नहीं है। ऊँचे वर्णका हो, नीचेका हो, पण्डित हो, मूर्ख हो, सभी इसके अधिकारी हैं। बल्कि ऊँचा वही है, बड़ा वही है जो भगवन्नामपरायण है, जिसके मुख और मनसे निरन्तर विशुद्ध प्रेम-पूर्वक श्रीभगवन्नामकी ध्वनि निकलती है।

गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

धन्य धन्य माता पिता, धन्य पुत्रबर सोइ।
तुलसी जो रामहि भजै, जैसेहु कैसेहु होइ॥
तुलसी जाके बदनते, धोखेहु निकसत राम।
ताके पगकी पगतरी, मोरे तनुको चाम॥
तुलसी भक्त श्वपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि कामको, जहाँ न हरिको नाम॥
अति ऊँचे भूधरनपर, भुजगनके अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ऊख अन्न अरु पान॥

सब मिलकर बोलो श्रीभगवन्नामकी जय!



प्रेम-तत्त्व

१—वह प्रेम, प्रेम नहीं है जिसका आधार किसी इन्द्रियका विषय है ।

२—नियमोंके सारे बन्धनोका अनायास आप-से-आप टूट जाना ही प्रेमका एकमात्र नियम है ।

३—जबतक नियम जान-बूझकर तोडे जाते हैं, तबतक प्रेम नहीं है, कोई-न-कोई आसक्ति तुमसे वैसा करवा रही है। प्रेममे नियम तोड़ने नहीं पड़ते, परन्तु उनका बन्धन आप-से-आप टूट जाता है ।

४–प्रेममें एक विलक्षण मत्तता होती है, जो नियमोंकी ओर देखना नहीं जानती।

५–प्रेममें भी सुखकी खोज होती है, परन्तु उसमें विशेषता यही है कि वहाँ प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख माना जाता है।

६–प्रेमास्पदके सुखी होनेमें यदि प्रेमीको भयानक नरकयन्त्रणा भोगनी पड़े तो उसमें भी उसे सुख ही मिलता है, क्योंकि वह अपने अस्तित्वको प्रेमास्पदके अस्तित्वमें विलीन कर चुका है।

७–अपना सुख चाहनेवाली तो वेश्या हुआ करती है, जिसके प्रेमका कोई मूल्य नहीं। पतिव्रता तो अपना सर्वस्व देकर भी पतिके सुखमें ही सुखी रहती है, क्योंकि वह वास्तवमें एक पतिके सिवा अन्य किसी पदार्थको 'अपना' नहीं जानती।

८–प्रेमास्पद यदि प्रेमीके सामने ही उसकी सर्वथा अवज्ञा कर किसी नवीन आगन्तुकसे प्रेमालाप करे तो इसमें प्रेमीको क्षोभ नहीं होता, उसे तो सुख ही होता है, क्योंकि इस समय उसके प्रेमास्पद-को सुख हो रहा है।

९–जो वियोग-वेदना, अपमान-अत्याचार और भय-भर्त्सना आदि सबको सहन करनेपर भी सुखी रह सकता है, वही प्रेमके पाठका अधिकारी है।

१०–प्रेम, जबानकी चीज नहीं, जहाँ लोक-परलोकके अर्पणकी तैयारी होती है वहीं प्रेमका दर्शन हो सकता है।

११–प्रेमके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं, सारा जीवन केवल प्रतीक्षामें बिताना पड़े, तब भी क्षोभ करनेका अधिकार नहीं ।

१२–प्रेम खिलौना नहीं है, परन्तु धधकती हुई आग है । जो सब कुछ भुलाकर उसमे कूद पड़ता है वही उसे पाकर कृतार्थ होता है ।

१३–प्रेमका आकार असीम है, जहाँ सकोच या सीमा है वहाँ प्रेमको स्थान नहीं ।

१४–प्रेम, प्रेमके लिये ही किया जाता है और इसकी साधनामे बिना विरामके नित्य नया उत्साह बढ़ता है ।

१५–प्रेम अनिर्वचनीय है, प्रेमका स्वरूप केवल प्रेमियोंकी हृदय-गुफाओंमे ही छिपा रहता है । जो बाहर आता है सो तो उसका कृत्रिम स्वरूप होता है ।

१६–भगवान् श्रीरामने देवी सीताजीको सन्देश कहलवाया था–

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥

१७–कबीरने कहा है—

प्रेम न वाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट विकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देहि लै जाय ॥

जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं, अब 'हरि' हैं 'मैं' नाहिं ।
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥



भक्ति-सुधा-सागर-तरंग

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद-वन्दन किये नासत विघन अनेक॥

१—प्राणीमात्र पूर्ण और नित्य सुख चाहते हैं।

२—पूर्ण और नित्य सुख अपूर्ण और अनित्य वस्तुसे कभी नहीं मिल सकता।

३—ब्रह्मलोकतकके समस्त भोग अपूर्ण और अनित्य हैं, उनकी प्राप्तिसे नित्यतृप्ति नहीं होती, वहाँसे भी वापस लौटना पड़ता है, पूर्ण और नित्य तो केवल एक परमात्मा है, जिसके मिल जानेपर फिर कभी लौटना नहीं पड़ता (गीता ८।१६)। इसीलिये मनुष्य किसी भी स्थितिमें तृप्त और सन्तुष्ट नहीं है, इसीसे ऋषिकुमार नचिकेताने भोगोंका सर्वथा तिरस्कार कर कल्याणकी इच्छा की थी (कठोपनिषद्)।

४—उस परम कल्याणकी प्राप्तिके कर्म, ज्ञान योग और भक्ति आदि अनेक उपाय हैं, परन्तु उन सबमें भक्ति मुख्य है (शाण्डिल्य सूत्र २२, नारद-सूत्र २५)

५—भक्तिमें साधकको भगवान्‌का बड़ा सहारा रहता है, अपनेमें

चित्त लगानेवाले भक्तको भगवान् ऐसी निश्चयात्मिका विमल बुद्धि दे देते है जिससे वह अनायास ही परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है (गीता १० । १०) । भगवान् बहुत शीघ्र उसका ससारसागरसे उद्धार कर देते हैं (गीता १२ । ७) ।

६–भक्तिरहित योग, सांख्य, स्वाध्याय, तप या त्यागसे भगवान् उतने प्रसन्न नहीं होते जितने भक्तिसे होते है (भागवत ११ । १४ । २०) क्योंकि भक्तिमे इन सबका स्वाभाविक समावेश है और भगवान्के परम तत्त्वको जाननेके साथ ही भगवान्के दर्शन करना तथा भगवान्मे मिल जाना तो केवल अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है (गीता ११ । ५४) ।

७–अखिल विश्वके आत्मारूप एक परमात्माको सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण कर देना–उस भूमाकी असीम सत्तामे अपनी आत्मसत्ताको सर्वथा विलीन कर देना ही वास्तविक भक्ति है । इसी भक्तिका तत्त्वज्ञ और रसज्ञ भक्तोंने 'परमप्रेमरूपा' और 'परानुरागरूपा' के नामसे वर्णन किया है (शाण्डिल्य-सूत्र २, नारद-सूत्र २) । असलमे तत्त्वज्ञान और पराभक्ति एक ही स्थितिके दो नाम हैं ।

८–जगत्के वन्दनीय जनों तथा देवताओंकी भी भक्ति की जाती है, परन्तु मनुष्यके अनादिकालीन ध्येय नित्य और पूर्ण सुखरूप परमात्माको प्राप्त करानेवाली तो ईश्वरभक्ति ही है । अतएव भक्ति-शब्दसे 'ईश्वरभक्ति' ही समझना चाहिये ।

९–साकार-निराकार दोनों ही ईश्वरके रूप हैं, 'परमात्मा अव्यक्तरूपसे सबमें व्याप्त हैं' (गीता ९ । ४)और वही भक्तके भावनानुसार व्यक्त साकार अग्निकी तरह चाहे जब, चाहे जहाँ प्रकट हो सकता है । असलमें जल तथा बर्फकी तरह निराकार और साकार एक ही है !

१०–भगवान्‌के किसी भी साकार स्वरूपकी या निराकारकी भक्ति की जा सकती है। यह भक्तकी प्रकृति, रुचि, अधिकार और अवस्थापर निर्भर है।

११–मुख्यके अतिरिक्त उसीके साधनस्वरूप गौणी भक्ति तीन प्रकारकी है, साधकके स्वभावभेदसे ही भक्तिमें इस भेदकी कल्पना है (भागवत ३।२९।७)।

१२–जो भक्ति हिंसा, दम्भ, मत्सरता, क्रोध और अहंकारसे कामनापूर्तिके लिये की जाती है वह तामस है (भागवत ३।२९।८)।

१३–जो भक्ति विषय, यश या ऐश्वर्यकी कामनासे भेददृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमा आदिकी पूजाके रूपमें की जाती है, वह राजस है (भागवत ३।२९।९)।

१४–जो भक्ति पापनाशकी इच्छासे समस्त कर्मफल परमात्मामें अर्पण करके, परमात्माकी प्रीतिके लिये यज्ञ करना कर्तव्य है यह समझकर भेददृष्टिसे की जाती है वह सात्त्विक है (भागवत ३।२९।१०)।

१५–इन तीनोंमें कामना और भेददृष्टि रहनेसे इनको गौणी भक्ति कहते हैं। इनमें तामससे राजस और राजससे सात्त्विक श्रेष्ठ है (नारद-सूत्र ५७)। इनके साधनसे साक्षात् मुक्ति नहीं मिलती परन्तु सर्वथा न करनेकी अपेक्षा इनको करना भी उत्तम है। मनुष्यको चाहिये कि यदि सात्त्विक न हो सके तो कम-से-कम राजससे ही भक्तिका साधन अवश्य आरम्भ कर दे।

१६–गीतामें आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकारके पुण्यात्मा और उदार भक्त बतलाये गये हैं, इनमेंसे पहले तीन गौण

और चौथा मुख्य भगवान्‌का आत्मा ही है (गीता ७ । १६-१७; नारद-सूत्र ५६-५७)

१७—रोग-शोक-भयसे पीड़ित होकर उससे छूटनेकी इच्छासे जो पुरुष भक्ति करता है वह आर्त भक्त है, जैसे गजराज, द्रौपदी आदि।

१८—इस लोक या परलोकके किसी भोगके लिये जो भक्ति करता है, वह अर्थार्थी भक्त है जैसे ध्रुव, विभीषण आदि ।

१९—ये दोनों प्रकारकी भक्ति राजसीके अन्तर्गत आ जाती हैं । वास्तवमे भगवान्‌की भक्तिमे किसी प्रकारकी कामना नहीं करनी चाहिये (नारद-सूत्र ७) । पर किसी तरहसे भी की हुई भगवान्‌की भक्ति अन्तमें साधकके हृदयमें प्रेम पैदा करके उसका परम कल्याण कर देती है (गीता ७ । २३) । ध्रुव, विभीषण, गजराज, द्रौपदी आदिके उदाहरण प्रत्यक्ष हैं ।

२०—विषयोंकी कामना भगवान्‌का यथार्थ महत्त्व न जाननेके कारणसे ही होती है, इससे जो पुरुष भगवान्‌के रहस्यको यथार्थरूपसे जाननेके लिये भक्ति करता है वह जिज्ञासु कहलाता है, उसे अन्य कोई कामना नहीं रहती, इसीलिये वह पूर्वोक्त दोनोंसे उत्तम माना गया है वास्तवमे स्वरूप जाने बिना भक्ति किसकी और कैसे हो ?

२१—भगवान्‌को यथार्थ जानकर जो अभेदभावसे निष्काम और अनन्यचित्त होकर भक्ति करता है, वह ज्ञानी भक्त है । ऐसे तन्मय एकान्त भक्तको ही श्रीनारदने 'मुख्य' बतलाया है (नारद-सूत्र ६७, ७०)। वास्तवमें जो अपनेमें भगवान्‌की भावना करके सब प्राणियोंमें अपनेको और भगवत्स्वरूप आत्मामें सबको देखता है वही श्रेष्ठ भागवत है (भागवत ११ । २ । ४५) । परन्तु इस प्रकारके सर्वत्र वासुदेवको देखनेवाले भक्त जगत्‌में अत्यन्त दुर्लभ हैं (गीता ७ । १९)।

२२—भगवान्‌के सम्यक् ज्ञान विना भजनका परम आनन्द स्थायी और एक-सा नहीं होता। भजनकी एकतानतामें श्रीनारदजीने गोपियोंका दृष्टान्त देकर (नारद-सूत्र २१) यह बतलाया है कि गोपियोंकी भक्ति अन्धी नहीं थी, वे भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानती थीं (नारद-सूत्र २२, भागवत १०। २९। ३२, १०। ३१। ४) गोपियोंकी परमोच्च भक्तिमें व्यभिचार देखनेवालोंकी आँखें और बुद्धि दूषित हैं।

२३—ज्ञानी भक्त भगवान्‌को आत्मवत् प्रिय होते हैं (गीता। ७। १८) यह नहीं समझना चाहिये कि आत्माराम ज्ञानी पुरुष नित्य बोधरूपमें अभिन्न स्थित होनेके कारण भक्ति नहीं करते, सच्ची अहैतुकी भक्ति तो वे ही करते हैं। भगवान्‌के गुण ही ऐसे विलक्षण हैं कि शुकदेव-सरीखे आत्माराम मुनियोंको भी उनकी अहैतुकी भक्ति करनी पड़ती है (भागवत)।

२४—भगवान् ही सब भूतोंके भीतर-बाहर और सर्वभूतरूपसे स्थित हैं (गीता १३। १५), यह जानकर भक्तगण उस सर्वव्यापी भगवान्‌के गुण सुनते ही सब प्रकारकी फलाकाङ्क्षासे रहित होकर गङ्गाका जल जैसे स्वाभाविक ही बहकर समुद्रके जलमें अभिन्नभावसे मिल जाता है वैसे ही अपनी कर्मगतिको अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌में समर्पण कर देते हैं, इसीका नाम निर्गुण या निष्काम भक्ति है। इसीको अहैतुकी भक्ति कहते हैं (भागवत ३। २९। ११-१२)।

२५—ऐसे अहैतुक भक्त आप्तकाम, पूर्णकाम और अकाम होनेके कारण भगवत्सेवाके स्वाभाविक आचरणको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते। संसारके भोग और स्वर्गसुखकी तो गिनती ही क्या है, वे मुक्ति भी नहीं ग्रहण करते '*मुक्ति निरादर*

भगति लुभाने' भगवान् स्वयं उन्हें सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—यह पाँच प्रकारकी मुक्ति देना चाहते हैं, पर वे नहीं लेते, यही आत्यन्तिक एकान्तभक्ति है (भागवत ३ । २९ । १३-१४) ।

२६—ऐसे भक्त श्रद्धायुक्त होकर, अनिमित्त माया-भोगको त्याग कर, हिंसा-द्वेषसे रहित हो विधिवत् कर्मयोगका निष्काम आचरण करते हैं। भगवान्का दर्शन, सेवन, अर्चन, स्तवन और भजन करते हैं । धैर्य और वैराग्यसे युक्त होकर प्राणीमात्रमे भगवान्को देखते हैं । महात्माओंका मान, दीनोंपर दया और समान अवस्थाके लोगोसे मैत्री करते हैं। यम-नियमका पालन, भगवत्-कथाओका श्रवण, भगवन्नाम-कीर्तन और अहंकार तथा कपट छोड़कर विनीतभावसे सदा-सर्वदा सत्सङ्ग करते हैं (भागवत ३ । २९ । १५-१८)।

२७—इसी भक्तिको पराभक्ति कहते हैं, पराभक्तिको प्राप्त करनेका क्रम यह है—विशुद्धबुद्धि, एकान्तसेवी और मिताहारी होकर मन-वाणी-शरीरको वशमे कर, दृढ वैराग्य धारण कर, नित्य ध्यान-परायण रहकर, सात्त्विकी धारणासे चित्तको वशमें कर, विषयोंका त्याग कर, राग-द्वेषको छोडकर, अहंकार-बल-दर्प-काम-क्रोध-परिग्रहसे रहित होकर, ममता-मोहको त्याग कर जब साधक शान्तचित्त हो जाता है तब वह ब्रह्मज्ञानके योग्य होता है, तदनन्तर ब्रह्मीभूत होकर, किसी वस्तुके जानेमे शोक एवं किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षाका सर्वथा त्याग कर जव प्रसन्नचित्तसे समस्त प्राणियोंमे समभावसे परमात्माको देखता है तब उसे पराभक्ति मिलती है। इस पराभक्तिसे वह भगवान्को यथार्थ जानकर उसी क्षण भगवान्में मिल जाता है (गीता १८।५१-५५)।

२८—इसी भक्तिका एक नाम 'प्रेमाभक्ति' है । इसमें भी भक्त

सब प्रकारके परिग्रहको त्याग कर, सब कुछ परमात्मामें अर्पण कर उसके प्रेममें मतवाला हो जाता है, एक क्षणकी भगवान्‌की विस्मृति उसे परम व्याकुल कर डालती है (नारद-सूत्र १९)। 'प्रेमाभक्ति' का साधक इतना उच्च वैराग्यसम्पन्न होता है कि जिसकी किसीसे तुलना नहीं की जा सकती। वह अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के लिये इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंको सदाके लिये तिलाञ्जलि देकर अपने आचरणोंमे केवल हरिको ही प्रसन्न करना चाहता है, वह उसी कर्मका अनुष्ठान करता है जिससे हरि भगवान्‌को आनन्द हो, *'तत्सुखे सुखित्वम्'* ही उसके जीवनका लक्ष्य रहता है (नारद-सूत्र २४)। वह अपना सिर तो हथेलीपर रक्खे घूमता है। तदनन्तर प्रेमकी बाढ़से उस भक्तिकी गुणरहित मादकतासे वह उन्मत्त, स्तब्ध और आत्माराम हो (नारद-सूत्र६) कभी द्रवित-चित्त होकर गद्गद-वाणीसे गुणगान करता है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी चुप हो रहता है, कभी निर्लज्ज होकर गाता और कमी प्रेमविह्वल होकर नाचता है। ऐसे भक्तिसम्पन्न सच्चे प्रेमी पुरुषके संसर्गसे त्रिभुवन पवित्र होता है (भागवत ११। १४। २४)। ऐसे प्रेमियोंके कण्ठ रुक जाते हैं, वे आँसुओंकी धारा बहाते हुए कुल और पृथ्वीको पवित्र करते है। तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मको सत्कर्म और शास्त्रको सत्-शास्त्र बनाते हैं, क्योकि वे भगवान्‌में तन्मय हैं, उनको देखकर पितृगण आनन्दमें भर जाते हैं, देवता नाच उठते है और पृथ्वी सनाथा होती है (नारद-सूत्र ६८-७१)।

२९-प्रेमी भक्त सब प्रकारके विधि-निषेधोंसे स्वाभाविक ही परे रहते हैं (नारद-सूत्र ८)। आगे चलकर वे भक्त तद्रूप हो जाते हैं और समस्त जड़-चेतन जगत्‌में केवल हरिका स्वरूप ही देखते हैं।

उनका 'मैं' पन भगवान्‌में सर्वथा विलीन हो जाता है। यही प्रेमाभक्ति-का परिणाम है।

३०—इसीका एक नाम अनन्य भक्ति है। जो साधक अनन्य-भावसे भगवान्‌के लिये ही सब कर्म करता है, भगवान्‌के ही परायण रहता है, भगवान्‌का ही भक्त है, स्त्री-पुत्र-स्वर्ग-मोक्षादिमें आसक्तिसे रहित है और सम्पूर्ण प्राणियोमे सर्वथा निर्वैर होता है, वह भगवान्‌को ही पाता है (गीता ११।५५), ऐसे भक्तके पूर्वकृत समस्त पाप बहुत शीघ्र नाश हो जाते हैं (गीता ९। ३०-३१) और उसके योगक्षेमका वहन स्वय भगवान् करते है (गीता ९। २२)।

३१—इस प्रकार अहैतुकी, परा, एकान्त, विशुद्ध, निष्काम, प्रेमा, अनन्य आदि सब एक ही उच्चतम भक्तिके कुछ रूपान्तर-भेद हैं। इस परम भक्तिको प्राप्त करना ही भगवत्-प्राप्तिका प्रधान उपाय है। गौणी भक्ति भी इसी फलको देती है। इस परम भक्तिका परिणाम या इसीका दूसरा नाम 'भगवत्-प्राप्ति' है। भावुक भक्त तो इसे मोक्षसे भी बढकर समझते हैं।

३२—प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त एकनाथ महाराजने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानीकी व्याख्या दूसरी तरहसे की है। उनका भाव है कि मूल श्लोकमे जब भक्तोंका आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह क्रम है तब हमे अर्थ करनेमे यह क्रम क्यों बदलना चाहिये ? ज्ञानी तो भगवद्रूप है ही। बाकी तीनोंके लौकिक और पारमार्थिक दोनों अर्थ करके वे पारमार्थिक अर्थ ग्रहण करनेको कहते हैं—

आर्त—रोगी (लौकिक अर्थ), भगवत्-प्राप्तिके लिये व्यथित (पारमार्थिक अर्थ)।

जिज्ञासु—वेद-शास्त्रके जाननेका इच्छुक (लौकिक अर्थ), भगवत्-तत्त्व जाननेके लिये उद्योग करनेवाला (पारमार्थिक अर्थ)

अर्थार्थी—धनकी कामनावाला (लौकिक अर्थ), सब अर्थोंमें एक भगवान् ही परम अर्थ हैं ऐसी दृढ़ भावनावाला भगवान्का अर्थी (पारमार्थिक अर्थ)।

इस अर्थका क्रम देखनेसे उत्तरोत्तर उत्तमता समझमें आती है। भगवान्के लिये जिसके हृदयमें व्यथा उत्पन्न होती है वह आर्त, तदनन्तर जो वेद, शास्त्र, पुराणादि और साधु-महात्माओंके सेवनद्वारा भगवान्का अनुसन्धान करता है, वह जिज्ञासु और भगवान्के सिवा अन्यान्य सभी अर्थ अनर्थरूप हैं, यों जानकर सभी अर्थोंमें उस एक अर्थको देखनेवाला अर्थार्थी, एवं उस अर्थके प्राप्त कर लेनेपर 'सब कुछ हरिमय है' इस निश्चयपर सदा आरूढ़ रहनेवाला ज्ञानी भक्त है।

३२–इस भक्तिसाधनकी नौ सीढ़ियाँ हैं–श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन (भागवत ७। ५। २३)।

इस नौके तीन विभाग हैं–श्रवण, कीर्तन, स्मरणसे भगवान्के नामकी सेवा, पादसेवन, पूजन और वन्दनसे रूपकी सेवा और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदनसे भावद्वारा होनेवाली सेवा है। इन नौ साधनोंको इस तरह समझना चाहिये—

श्रवण–भगवान्की महिमा, कीर्ति, शक्ति, लीला-कथा और उनके चरित्र, नाम, गुण, ज्ञान, महत्त्व आदिको श्रद्धापूर्वक अतृप्त-मनसे सदा सुनते रहना और अपनेको तदनुसार बनानेकी चेष्टा करना। राजा परीक्षित्, पृथु, उद्धव आदि इसी श्रेणीके भक्त हैं।

कीर्तन—भगवान्‌के यश, पराक्रम, गुण, माहात्म्य, चरित और नामोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना।

(क) कीर्तन स्वाभाविक होना चाहिये, उसमे कृत्रिमता न हो।

(ख) कीर्तन केवल भगवान्‌को रिझानेकी शुभ भावनासे हो, लोगोंको दिखलानेके लिये न हो।

(ग) कीर्तन नियमितरूपसे हो।

(घ) यथासम्भव कीर्तनमे बाजे और करतालका भी प्रबन्ध रहे।

(ङ) कीर्तनके साथ स्वाभाविक नृत्य भी हो।

(च) समय-समयपर मण्डली बनाकर नगर-कीर्तन भी किया जाय। स्वाभाविक कीर्तन वह है जो अपने मनकी मौजसे अपने सुखके लिये बिना प्रयास होता है, उसमे एक अनोखी मस्ती रहती है जिसका अनुभव उस साधकको ही होता है, दूसरे लोग उसका अनुमान भी नहीं कर सकते।

माननीय, गुणज्ञ, सारग्राही सत्पुरुष इसीलिये कलियुगकी प्रशसा करते हैं कि इसमे कीर्तनसे ही साधक संसारके सगका त्यागी होकर परम धामको पाता है (भागवत ११। ५। ३६)। महाप्रभु चैतन्य, भक्त तुकाराम और नरसीजी आदि इसके उदाहरण हैं। इस दोषपूर्ण कलियुगमें यही एक भारी गुण है कि इसमें भगवान्‌के कीर्तनसे ही मनुष्य समस्त बन्धनोंसे छूटकर परम धामको प्राप्त करता है। सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे, द्वापरमें सेवासे जो फल होता था, वही कलियुगमें केवल श्रीहरि-कीर्तनसे होता है (भागवत)। अतएव जो अहर्निश प्रेमपूर्वक हरिकीर्तन करते हुए घरका सारा काम करते हैं वे भक्तजन धन्य हैं (भागवत)।

भगवान्‌के नामके समान मङ्गलकारी और कुछ भी नहीं है, भक्ति-रूपी इमारतकी नींव श्रीभगवन्नाम ही है। पूर्वकृत महान् पापोंका नाश करनेमें भगवान्‌का नाम प्रचण्ड दावानल है, भक्त अजामिल और जीवन्ती वेश्याका इतिहास प्रसिद्ध है। परन्तु जो लोग दम्भसे या पाप करनेके लिये भगवान्‌का नाम लेते हैं, वे पातकी हैं। जो लोग नामकी आड़में पाप करते हैं उनके वे पाप वज्रलेप हो जाते है, उन पापोंकी शुद्धि करनेमें यमराज भी समर्थ नहीं हैं (पद्मपुराण ब्रह्मखण्ड)। नारद, व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, चैतन्य, सूर, तुलसी, नानक, तुकाराम आदि कीर्तनश्रेणीके भक्त समझे जाते हैं।

स्मरण—जैसे लोभी धनको और कामी कामिनीको स्मरण करता है उसी प्रकार नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये। भगवान्‌के गुण और माहात्म्यको बार-बार स्मरणकर उसपर मुग्ध होना और उस गुणावलीके अनुकरण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जो मनुष्य अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता है, उसके लिये भगवान् बडे सुलभ हैं (गीता ८। १४)। जो मृत्युसमय भगवान्‌का स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है, वह निस्सन्देह भगवान्‌को प्राप्त होता है, परन्तु अन्तकालमे स्मरण वही कर सकता है जिसने जीवनभर भगवत्-स्मरणका अभ्यास किया हो (गीता ८। ५-७)। स्मरणके अन्तर्गत ही ध्यान समझना चाहिये। स्मरण-भक्तिमें प्रह्लाद, भीष्म, हनुमान्, व्रजबालाएँ, विदुर, अर्जुन आदि समझने चाहिये।

पादसेवन—श्रवण, कीर्तन और स्मरण तो निराकार और निर्गुण भगवान्‌का भी हो सकता है परन्तु पादसेवनसे लेकर आत्मनिवेदनतकमें

साकारकी आवश्यकता रहती है। भक्त श्रीभगवान्‌के जिस रूपका उपासक हो उसीका चरणसेवन करना चाहिये। भगवत्-पदारविन्द-सेवन भक्तिमें प्रधान साधन है। महादेवी श्रीलक्ष्मीजी सदा भगवान्‌के पादसेवनमे प्रवृत्त रहती हैं। जबतक यह जीव श्रीभगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं लेता तभीतक वह धन, घर और परिवारके लिये शोक, भय, इच्छा, तिरस्कार और अतिलोभ आदिके द्वारा सताया जाता है (भागवत ३।९।६)। ज्ञान-वैराग्ययुक्त होकर योगीलोग भक्तियोगसे भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं (भागवत ३।२५।४३)। श्रीलक्ष्मीजी, रुक्मिणीजी आदि इसमें प्रधान हैं।

जगत्‌मे प्राणीमात्रको भगवद्रूप समझकर आवश्यकतानुसार सबकी चरणसेवा करनी चाहिये। स्त्री पतिको, पुत्र माता-पिताको और शिष्य गुरुको परमात्मा मानकर उनकी चरण-सेवा करे।

पूजन--अपनी रुचिके अनुसार मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान्‌की पूजा करना अर्चन या पूजन कहलाता है। पूजनके लिये आकारकी आवश्यकता होती है इसीलिये सुविज्ञ शास्त्रकारोंने मूर्तिकी व्यवस्था की है।

(क) पत्थरकी, काठकी, धातुकी, मिट्टीकी, चित्रकी, वालूकी, मणियोंकी और मनकी यह आठ प्रकारकी प्रतिमाएँ होती हैं (भागवत ११।२७।१२)। बाह्य पूजा करनेवाले साधकको मनकी मूर्ति छोड़कर बाकी सात प्रकारमेंसे अपनी रुचि और अवस्थाके अनुसार कोई-सी मूर्ति निर्माण करनी या करानी चाहिये।

(ख) पूजामें सोलह उपचार होते हैं।

(ग) पूजाकी सामग्री सर्वथा पवित्र होनी चाहिये।

(घ) केवल वाहरी पवित्रता ही नहीं, परन्तु भगवान्‌की पूजा-

सामग्री न्यायोपार्जित द्रव्यकी होनी चाहिये, अन्याय या चोरीसे उपार्जित द्रव्यद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेसे वह पूजा कल्याण देनेवाली नहीं हो सकती (पद्मपुराण पातालखण्ड)। शुद्ध वृत्तिद्वारा उपार्जित द्रव्यसे ही नारायण भगवान्‌का यज्ञ करना चाहिये (भागवत १०)। भगवान्‌की पूजा करनेवालेको द्रव्य-शुद्धिके लिये धन कमानेमें अन्याय-असत्यका त्याग करना चाहिये।

(ङ) इसके सिवा भगवान्‌को वही वस्तु अर्पण करनी चाहिये जो अपनेको अत्यन्त प्रिय और अभिलषित हो (भागवत ११।११।४१)। जो लोग निकम्मी चीजें भगवान्‌के अर्पणकर अभिलषित वस्तुकी रक्षा करते हैं वे यथार्थमें भक्त नहीं हैं।

(च) इसलिये पूजाके साथ-साथ हृदयमें भक्ति भी चाहिये। भक्तिरहित पुरुष पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि अनेक सामग्रियोंद्वारा भगवान्‌की बड़ी पूजा करता है तब भी भगवान् उसपर प्रसन्न नहीं होते।

भगवान् प्रेम या भावके भूखे हैं, उन्हें पूजा करवानेकी अभिलाषा नहीं है, केवल भक्तोंका मान बढ़ाने और उन्हें आनन्द देनेके लिये ही भगवान् पूजा स्वीकार करते हैं, असलमें जो लोग भगवान्‌का सम्मान करते हैं वह उन्हींको मिलता है, जैसे दर्पणमें अपने ही मुखकी शोभा दीख पड़ती है (भागवत ७।९।११)।

भगवान्‌के किसी रूपविशेषकी मानसिक पूजा भी होती है, भगवान्‌के एक-एक अवयवकी कल्पना करते हुए दृढ़तासे सम्पूर्ण मूर्तिको मनमें स्थिर करके उसकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर मूर्तिको चित्तसे हटाकर, चित्तको सर्वथा चिन्तनशून्य—निर्विषय करके अचिन्त्य परमात्मा-

में स्थित हो रहना चाहिये। यह अचिन्त्य ही विष्णुका परमपद है।

भगवान्के अवतारोंके दिव्य शरीरोंका वर्णन पुराणोंमे पढकर तदनुसार मूर्तिनिर्माण या मनमे कल्पना की जा सकती है। इस रूपमय जगत्की उत्पत्ति अरूपसे ही हुई है, इसलिये रूपसे ही वापस अरूपमे पहुँचा जा सकता है। जब चतुर चित्रकार अपने मनोमय रूपको चित्राङ्कित करके दिखला देता है, तब यह भी मानना चाहिये कि भक्तके हृदयपटपर भगवान्के जिस असाधारण सौन्दर्यकी छाया पड़ती है, भक्त भी उसे बाहर अंकित करके उसकी पूजा कर सकता है। बाहर-भीतर दोनो जगह पूजा होनेसे ही तो पूजाकी पूर्णता है।

मूर्तिपूजासे भक्तिकी वृद्धिमे बड़ा लाभ हुआ है और उसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव भक्तोको मूर्तिपूजाका विरोध करनेवाले लोगोंके फेरमें भूलकर भी नहीं पडना चाहिये।

भगवान्के पूजनमे इन सात पुष्पोकी बड़ी आवश्यकता है–(१) अहिंसा, (२) इन्द्रियसयम, (३) दया, (४) क्षमा, (५) मनोनिग्रह, (६) ध्यान, (७) सत्य। इन पुष्पोंद्वारा की जानेवाली पूजासे भगवान् जितने प्रसन्न होते हैं, उतने प्राकृत पुष्पोंसे नहीं होते, क्योंकि उन्हें उपकरणोंकी अपेक्षा भक्ति विशेष प्यारी है। भक्तके सिवा और किसीमें इन फूलोंसे भगवान्को पूजनेकी सामर्थ्य नहीं है (पद्मपुराण पातालखण्ड)।

भगवान्की प्रतिमाओंके अतिरिक्त सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, अनन्त आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और सम्पूर्ण प्राणी–इन ग्यारहको भगवान् मानकर इनकी पूजा करनी चाहिये (भागवत ११। ११। ४२)।

जो लोग सब प्राणियोंमें सदा निवास करनेवाले, सबके आत्मा

और ईश्वर परमात्माको भुलाकर प्राणियोंसे तो हिंसा और द्वेष करते है पर भेदभावसहित प्रतिमापूजन बड़ी विधिसे किया करते हैं, उनकी वह पूजा विफल होती है, वे भगवान्‌की अवज्ञा करते हैं, उनपर भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते। सब प्राणियोंके अंदर रहनेवाले, भगवान्‌से वैर रखनेवाले और उसका अनादर करनेवाले लोगोंको कभी शान्ति-सुख नहीं मिल सकता (भागवत ३ । २९ । २१-२४) । परन्तु कोई किसी भी तरह भगवान्‌की पूजा करे उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

अतएव प्राणीमात्रमें भगवान्‌की भावनाकर तन, मन, धनसे उनकी पूजा करना प्रत्येक भक्तका कर्तव्य है । भगवान् सर्वत्र हैं इससे भजनका अच्छे-से-अच्छा और समझमें आने योग्य स्थल प्राणीमात्र है। प्राणियोंमें जो दुखी हैं, अपंग हैं, निराधार हैं, उनकी सेवा ही भगवत्-सेवा है। भूखेको अन्न, प्यासेको पानी, रोगीको सेवा, गृहहीनको आश्रय, भयातुरको अभय और वस्त्रहीनको वस्त्र—श्रद्धा और सत्कारपूर्वक कर्तव्य समझकर—देना सर्वभूतस्थित भगवान्‌की पूजा करना है । आवश्यकतानुसार मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, अनाथाश्रम, विधवाश्रम औषधालय, कुआँ, तालाब आदिका भगवत्प्रीत्यर्थ निर्माण, स्थापन और सत्यतापूर्वक सञ्चालन करना भी भगवत्-पूजन ही है।

पूजन-भक्तिमें राजा पृथु, अम्बरीष, अक्रूर, शबरी, मीरा और धन्ना आदि माने जाते हैं।

वन्दन—भगवान्‌की मूर्ति, संत-महात्मा, भगवद्भक्त, माता-पिता, आचार्य, पति, ब्राह्मण, गुरुजन और प्राणीमात्रके प्रति भगवान्‌की

भावनासे नमस्कार करना, नम्रतायुक्त बर्ताव करना वन्दन-भक्ति है। भक्तकी बुद्धिमें जगत् हरिमय हो जाता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, जीव-जन्तु, वृक्षादि, नदी, समुद्र इन सबको भगवान्‌का शरीर समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये (भागवत ११ । २ । ४१)।

श्रीअक्रूर, अर्जुन आदि वन्दन-भक्त गिने जाते हैं।

दास्य—भगवान्‌को एकमात्र स्वामी और अपनेको नित्य सेवक मानकर भक्ति करना। केवल सेवक मानना ही नहीं, परन्तु प्रतिक्षण बड़ी सावधानी, नित्य-नये उत्साह और बढती हुई प्रसन्नतामें मन, बुद्धि, शरीरद्वारा निष्काम भावसे बाह्यान्तर सेवा करते रहना कर्तव्य है। जितनी अधिक सेवा हो उतना ही हर्ष बढ़ना दास्य-भक्तिका लक्षण है। सच्चा भगवत्-सेवक सदा सेवा मिलती रहनेके अतिरिक्त और कोई फल नही चाहता। जिन भाग्यवानोंका चित्त भगवान्‌की सेवामें सलग्न है, उनको मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है (भागवत)। जो सेवाके बदलेमें भगवान्‌से कुछ चाहता है वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। निष्काम सेवकको किसी भी फलकी अभिसन्धि नहीं होती (भागवत ७ । १० । ४)।

निष्काम सेवकका धर्म स्वामीके इशारेपर चलना ही होता है। कोई कैसा ही मनके प्रतिकूल कार्य हो, प्रभुका इशारा मिलते ही वह उसके अनुकूल बन जाता है, जैसे आदर्श सेवक श्रीभरतजीका श्रीरामके सकेतानुसार वनसे पुनः अयोध्यामें लौट आना।

सेवक कभी मन मारकर या बेगार समझकर सेवा नहीं करता। सेवामे प्रतिक्षण उसकी प्रसन्नता बढ़ती रहती है और वह किसी

तरहका शुल्क लेकर सेवा नहीं करना चाहता। इसीसे गोपियोंने अपनेको 'निःशुल्क सेविका' और प्रह्लादजीने 'निष्काम दास' वतलाया था। अपूर्व दासभक्त हनुमान्‌जी महाराजने कभी कुछ नहीं माँगा, विना माँगे उन्हें अमूल्य हार दिया गया तो उसको भी रामसे रहित जानकर नष्ट कर दिया। कभी माँगा तो केवल नित्य-सेवाका सुअवसर माँगा और कहा कि 'हे नाथ! मुझे वह भवबन्धन-को काटनेवाली मुक्ति मत दीजिये, जिससे आपका और मेरा स्वामी-सेवकका सम्बन्ध छूटता है, मैं ऐसी मुक्ति नहीं चाहता।' भक्तको चाहिये कि वह सारे विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी निष्काम सेवा करे। विश्वका सेवक ही परमात्माका सेवक है, विष्णु-सहस्रनाममें 'विश्व' नामसे ही परमात्माका निर्देश किया गया है। श्रीहनूमान्‌जी, प्रह्लादजी और गोपियाँ इस श्रेणीके भक्तोंमें माने जाते हैं।

सख्य—भगवान्‌को ही अपना परम मित्र मानकर उसपर सब कुछ न्योछावर कर देना। मित्रके दुःखमें दुखी होना, मित्रके संकटको बहुत बड़ा और उसके सामने अपने बहुत बड़े संकटको तुच्छ समझना, मित्रको बुरे पथसे हटाकर अच्छेमें लगाना, उसके दोषोंको न देखकर गुण प्रकट करना, देन-लेनमें शङ्का न करना, शक्तिभर सदा हित करना, विपत्तिमें सौगुना प्रेम करना—ये मित्रके लक्षण गोसाईं तुलसीदासजी महाराजने वतलाये हैं। अकारण सुहृद् भगवान् इन गुणोंसे स्वाभाविक ही विभूषित हैं। मनुष्यमें इन गुणोंकी पूर्णता नहीं मिल सकती, इसीलिये सख्य करने योग्य केवल परमात्मा ही है। भक्तको चाहिये कि वह इन गुणोंको अपने अंदर उत्पन्न करनेका प्रयत्न करे। सच्चे भक्तमें तो इन गुणोंका विकास होता ही है। वह समस्त

चराचर जगत्को भगवान्का रूप समझकर सबसे प्रेम और मित्रताका व्यवहार करता है। इसीसे भगवान्ने भक्तको जगत्का मित्र बतलाया है (गीता १२। १३)।

भगवान्का सखा-भक्त अपना हृदय खोलकर भगवान्के सामने रख देता है यानी छल-कपटका वह सर्वथा त्यागी होता है, सुख-दुःखमें वह भगवान्की ही सत् सम्मति चाहता है, भगवान्को ही अपना समझता है और अपने घर-द्वार, धन-दौलत सबपर उस सखारूप भगवान्का ही निरंकुश अधिकार समझता है। उससे उसका प्रेम स्वाभाविक ही होता है, उसमें स्वार्थ या कामनाका कलङ्क नहीं रहता। ऐसे मित्रोंमें अर्जुन, उद्धव, सुदामा, श्रीदाम आदिके नाम लिये जाते हैं।

आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्तिका अन्तिम सोपान है। भक्त अपने आपको अहङ्कारसहित सर्वथा सदाके लिये परमात्माके समर्पण कर देता है। ऐसा भक्त ही निष्किञ्चन कहलाता है। यह अवस्था बहुत ही ऊँची होती है। राजा बलिने साकार भगवान्के चरणोंमें अपनेको अर्पण करके और याज्ञवल्क्य, शुकदेव, जनकादिने नित्य निर्विकार निर्गुण निराकार भगवान्में अपना अहंकार सर्वतोभावेन विलीन करके आत्मनिवेदन-भक्तिको सिद्ध किया था।

यही भागवतोक्त नवधा भक्तिके भेद हैं।

३४—रामचरितमानसमें गोसाईंजी महाराजने नवधा भक्तिका क्रम यों बतलाया है—(१) सत्सङ्ग, (२) भगवत्-कथामें अनुराग, (३) मानरहित होकर गुरुसेवा करना, (४) कपट छोड़कर

भगवान्‌के गुण गाना, (५) दृढ विश्वाससे रामनाम-जप करना, (६) इन्द्रियदमन, शील, वैराग्य आदि सत्पुरुषोंद्वारा सेवनीय धर्मका आचरण करना, (७) जगत्‌को हरिमय और संतको हरिसे भी अधिक समझना, (८) सबसे छल छोड़कर सरल बर्ताव करना, (९) भगवान्‌पर दृढ भरोसा रखकर हर्ष-विषाद न करना। श्रीअध्यात्मरामायणमें भी कुछ रूपान्तरसे नवधा भक्तिका ऐसा ही वर्णन है, सम्भव है गोसाईंजीने यह प्रसङ्ग वहींसे लिया हो।

३५–देवर्षि नारदजीने भक्तिके ग्यारह भेद बतलाये हैं। गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति (नारद-सूत्र ८२)।

३६–शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—ये पाँच रस भक्तिके माने जाते हैं। वेदान्ती भक्तोंने शान्त, सख्य, श्रीगोसाईंजी महाराजने दास्य, श्रीपुष्टिमार्गीय वैष्णव आचार्योंने वात्सल्य और श्रीचैतन्य महाप्रभुने माधुर्यको प्रधान माना है।

३७–कतिपय भक्ताग्रगण्य महानुभावोंने शरणागतिको ही प्रधान माना है। बात भी ऐसी ही है।

अवश्य ही शरण सच्ची होनी चाहिये, फिर भगवान् उसका सारा जिम्मा ले लेते हैं। भगवान्‌ने कहा है—सब धर्मोंको छोड़कर तू मुझ एककी शरण हो जा, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता न कर! (गीता १८।६६) इससे अधिक आश्वासन और कैसे दिलाया जा सकता है? शरणागत भक्त सर्वथा भगवान्‌के अनुकूल होता है। शरणागति त्रिविध है, 'मैं भगवान्‌का', 'भगवान्

मेरे' और 'मैं-वे एक ही हैं' इनमे उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है । बस, शरणागतिमें ही भक्तिसाधनका उपसंहार है । शरणागत भक्त भगवान्‌का अनन्य चिन्तन करनेवाला, भगवान्‌के आज्ञानुसार चलनेवाला, भगवान्‌के प्रत्येक कठोर-से-कठोर विधानमें सन्तुष्ट तथा भगवान्‌का ही अनुसरण करनेवाला होता है ।

३८—जो मनुष्य भक्त बनना चाहता है परन्तु भगवान्‌के सद्गुणोका अनुकरण नहीं करना चाहता, उसकी भक्तिमे सन्देह है । भक्तको चाहिये कि भगवान् श्रीरामजीकी पितृ-मातृभक्ति, भ्रातृस्नेह, एकपत्नीव्रत, मर्यादापालन, शूरवीरता, नम्रता, प्रजावत्सलता, रागद्वेषशून्यता, समता, तेज, क्षमा, मैत्री और भगवान् श्रीकृष्णके सखा-प्रेम, गीताज्ञान, सेवा, दुष्टदलन, शिष्टसंरक्षण, निष्काम कर्म, न्याययुक्त मर्यादारक्षण, अनासक्ति, समता, शौर्य, प्रेम आदि गुणोंका अनुकरण करे ।

३९—भक्तिका साधन केवल प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही किया जाता है, लोगोंको दिखलानेके लिये नहीं; अतएव भक्त बनना चाहिये, भक्ति दिखलानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये । भक्ति हृदयका परम गुह्य धन है, तमाशा या खिलौना नहीं !

४०—भक्त किसी प्रकारकी भी कामनाके वश नहीं होता, जो किसी कामनाके लिये भक्ति करते हैं वे असलमें भगवान् और भक्तिका मूल्य घटाते हैं । स्वार्थ और प्रेममें बड़ा विरोध है ।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रवि रजनी इक ठाम ॥

४१—इन्द्रियसुखके लिये भक्ति करनेवालोंकी बुद्धिमें भगवान्

या भक्ति साधन है और विषयसुख साध्य वस्तु है, वे विषयको भगवान्‌से बड़ा समझते हैं। जो लोग विषयसुखके साथ-ही-साथ भगवत्-प्राप्तिका सुख चाहते हैं, वे या तो मूर्ख हैं, नहीं तो पाखण्डी! एक म्यानमें दो तलवारें नही रह सकतीं। भगवान्‌की चाह हो तो विषयोंकी प्रीति छोड़ो!

४२—भक्त अकिञ्चन कहलाता है, क्योंकि वह अपना सर्वस्व 'मैं' 'मेरे' सहित शरीर, मन, बुद्धि, अहकार सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसके पास अपनी कहलानेवाली कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। जिसके पास कुछ न हो वही तो अकिञ्चन है। ऐसे अकिञ्चन भक्त भगवान्‌को बडे प्यारे होते हैं। भगवान् उनकी चरणरज पानेके लिये उनके पीछे पीछे घूमा करते हैं। (भागवत ११। १४। १६)। क्योकि वे भक्त ब्रह्मा, इन्द्रका पद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगकी आठों सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहते (मुक्ति तो उनके पीछे-पीछे डोला करती है)। भगवान्‌को ऐसे भक्त ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी और अपने आत्मासे भी बढ़कर प्रिय होते हैं। वास्तवमें ऐसे ही अकिञ्चन, शान्त, दान्त, ईश्वरार्पित-चित्त, अखिल-जीव-वत्सल, विषयवाञ्छारहित भक्त उस परमानन्दरूप परमात्माके आनन्दका रस जानते हैं (भागवत ११। १४। १७)।

४३—ऐसे भक्तोंके ममत्वकी चीज अगर कोई रहती है तो वह केवल भगवान्‌के चरणकमल रहते है, इसीसे वे भगवान्‌के हृदयमे निरन्तर बसते हैं।

४४—भक्त शरीर, वाणी और मनसे तीन प्रकारके व्रतोंका आचरण किया करते हैं। शरीरसे हिंसा, व्यभिचार, स्तेयका सर्वथा

त्याग कर सबकी सेवा किया करते है। वाणीसे किसीकी चुगली-निन्दा न कर सत्य, मधुर और हितकर भाषण तथा वेदाध्ययन और नाम-संकीर्तन किया करते हैं और मनसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकपटता, निरभिमानता निर्वैरताका पालन करते हुए सबका कल्याण चाहा करते हैं। जो मनुष्य मन, वाणी, शरीरसे छिपकर पाप करता है वह सर्वान्तर्यामी भगवान्‌को वास्तवमे मानता ही नहीं, वह तो एक प्रकारका नास्तिक है।

४५—भक्तिमें श्रद्धा मुख्य है। भगवान्‌को कोई व्यक्ति श्रद्धासे एक बूँद जल अर्पण करता है तो भगवान् उससे भी तृप्त होते हैं (वाराहपुराण)। श्रद्धावान् ही ज्ञान पाते हैं (गीता ४। ३९)। भगवान्‌को श्रद्धावान् अत्यन्त प्रिय हैं (गीता १२। २०)। भगवान्‌के मतके अनुसार बर्तनेवाले श्रद्धायुक्त पुरुष कर्मोंसे छूट जाते हैं (गीता ३। ३१)। जो श्रद्धावान् योगी भगवान्‌में मन लगाकर उन्हें भजता है वह सबसे श्रेष्ठ है (गीता ६। ४७)।

४६—कुछ लोगोंका कहना है कि वर्णाश्रम-धर्म भक्तिमे बाधक है, इसको छोड़ देना चाहिये। बस केवल भक्ति करो, सन्ध्या-तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि किसी कर्मकी कोई आवश्यकता नही, ये सब वर्ण-धर्मके झंझट त्याग देने चाहिये। परन्तु यह कथन ठीक नहीं। जो लोग हरि-रस-पानमें मत्त होकर वर्णाश्रमकी सीमाको लाँघ गये हैं अथवा जिनका वर्णाश्रममें अधिकार ही नहीं है, उनकी बात दूसरी है, परन्तु वर्णाश्रमके माननेवाले साधकोंको यह धर्म-व्यवस्था अवश्य माननी चाहिये। वर्णाश्रम भक्तिमें बाधक नहीं, पर पूरा साधक है। नारद कहते हैं जबतक परमात्मामें ऐकान्तिक निष्ठा न हो जाय

तबतक शास्त्रका रक्षण करना चाहिये, नहीं तो गिरनेका भय है (नारदभक्ति-सूत्र १२-१३)। जो वर्णाश्रमधर्मके विरुद्ध कार्य करते हैं वे नरकोंमें पड़ते हैं (विष्णुपुराण २।६।२८)। अतएव वर्णाश्रम-धर्मी सज्जनोंको वर्णाश्रमके कर्म भगवदर्थ निष्काम भावसे अवश्य करने चाहिये, इससे उन्हें भक्तिमें सहायता मिल सकेगी।

४७—पर इस बातको अवश्य याद रखना चाहिये कि मायाके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये तो केवल भक्ति ही सर्वोत्तम उपाय है (गीता ७।१४, भागवत १०।८७।३२)।

४८—जो मनुष्य भक्त कहलाकर, धन, मान, बडाई, स्त्री, पुत्र आदिकी प्राप्तिमें प्रसन्न और दरिद्रता, अपमान, निन्दा, स्त्री-पुत्रादिके नाशमें दुखी होता है और भगवान्‌को कोसता है वह वास्तवमें भक्त नहीं है। सच्चा भक्त इन आने-जानेवाले विषयोंकी कभी कोई परवा नहीं करता। उसके लिये जीवन-मरण समान है। अमावस्याकी कालरात्रि और पूर्णिमाकी निर्मल ज्योत्स्ना दोनोंमें ही वह अपने प्रियतम भगवान्‌का मनोहर वदन निरखकर निरतिशय आनन्द लाभ करता है। उसे न सुखकी स्पृहा होती है, न दुःखमें उद्विग्नता।

४९—भक्तकी तो अग्निपरीक्षाएँ हुआ करती हैं। प्रह्लादका अग्निमें पड़ना, हरिश्चन्द्रका रानीको बेचकर डोमका दासत्व करना, शिविका अपना मांस काटकर देना, दधीचिका अपनी हड्डियाँ देना, मयूरध्वजका पुत्रको चीरना, पाण्डवोंका वन-वन भटकना हरिदासका कोड़ोंकी मारसे व्याकुल न होकर भी हरिनाम पुकारना, ईसाका शूलीपर चढ़ जाना आदि। जो इन सब परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होता है वही यथार्थ भक्त है।

५०—पीड़न-प्रहार, निर्यातन-निष्कासन, अत्याचार-अपमान आदि तो भक्तके अंग-आभूषण होते है। भक्तको अपने जीवनमे इनका सदा ही स्वागत करना पड़ता है। ससारके लोग उसके जीवनकालमें प्रायः इन्हीं पुरस्कारोंसे उसकी पूजा किया करते हैं। श्रीहरिदास, नित्यानन्द, कबीर, नरसी, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, मीरा आदि सब इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

५१-हजार अत्याचार सहन करनेपर भी सर्वत्र भगवान्का दर्शन करनेवाला क्षमास्वरूप प्रेमी भक्त किसीका भूलकर भी बुरा नहीं चाहता, बल्कि प्रह्लाद और हरिदासकी तरह वह उन सबके कल्याणके लिये ही परमात्मासे प्रार्थना करता है।

५२—भक्त नित्य निर्भय होता है। जो सबमे सब समय अपने प्राणाराम प्रभुको देखता है, वह किससे और कैसे डरे! बात-बातमें डरनेवाले भक्त नहीं हैं। हॉ, पाप करनेमे ईश्वरसे अवश्य डरना चाहिये।

५३—भक्तिके मार्गमें निम्नलिखित प्रतिबन्धक हैं—इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये। दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, असत्य, अहकार, द्वेष, द्रोह, हिंसा, सिद्धियॉ, भक्तिका अभिमान, अपवित्रता, मान-बड़ाईकी इच्छा, निन्दा-अपमानकी परवा, ब्रह्मचर्यकी हानि, स्त्री और स्त्रीसगियोका संग, विलासिता, घृणा, नेतागिरी, आचार्य बनना, उपदेशक बनना, धनकी आसक्ति, ममता, कुसगति, लोकसमूहमें नित्य निवास, तर्क-वितर्क, माननागकी चिन्ता, सभा-समितियोंका अधिक ससर्ग, समाचारपत्र तथा गदे शृंगारके और व्यर्थ ग्रन्थ पढना और स्त्री-धन-नास्तिक-वैरीका चरित्र याद करना आदि।

५४—भक्ति-मार्गमे निम्नलिखित सहायक हैं—इनका संग्रह करना चाहिये । सत्संग, श्रद्धा, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्-शरणागति, शास्त्रश्रवण, पठन, नामजप, नामकीर्तन, दया, क्षमा, वैराग्य, सादगी, प्रेम, साधुसेवा, मैत्री, उपेक्षा, तर्क न करना, एकान्तसेवन, योगक्षेमकी वासनाका त्याग, कर्मफलका त्याग, दीनता, सहनशीलता, निरभिमान, निष्काम भाव, इन्द्रियनिग्रह, मनका वशमें करना, मूर्तिपूजा, मन्दिरसेवा, लोकसेवा, रोगीकी शुश्रूषा और पात्रको दान आदि ।

५५—चैतन्य महाप्रभुके मतसे भक्तके लक्षण—अपनेको एक तिनकेसे भी नीचा समझना, वृक्षसे अधिक सहनशील होना, अमानी होकर दूसरोको मान देना और सदा हरिकीर्तन करना ।

५६—गीतोक्त भक्तके सच्चे लक्षण—सब प्राणियोंमे द्वेषभावसे रहित, निःस्वार्थी मित्र, अकारण दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखको समान समझनेवाला, अपराधीपर भी क्षमा करनेवाला, सर्वदा सन्तुष्ट, निरन्तर भक्तियोगमे रत, संयतात्मा, दृढनिश्चयी, भगवान्‌मे अर्पित मन-बुद्धिवाला, किसीको उद्वेग न पहुँचानेवाला, किसीसे उद्वेग न पानेवाला, हर्ष-विषाद-भय-उद्वेगसे रहित, इच्छारहित, बाहर-भीतरसे पवित्र, चतुर, पक्षपातहीन, निन्दा-तिरस्कार आदिमे व्यथारहित, कामनामुक्त, सर्वारम्भका परित्यागी, प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमे हर्ष, अप्रियकी प्राप्तिमे द्वेष, प्रियके वियोगमें शोक और इच्छित वस्तुकी आकांक्षासे रहित, शुभाशुभ-फलकी परवा न करनेवाला, शत्रु-मित्रमें समान, मान-अपमानमें समान, शीत-उष्णादि सुख-दुःखोंमें समान, ईश्वरके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी रमणीयतापर आसक्त न

होनेवाला, निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील, किसी प्रकारसे भी जीवन-निर्वाहमे सन्तुष्ट, घर-द्वारकी ममतासे रहित, स्थिरबुद्धि, भगवत्परायण और श्रद्धाशील (गीता १२ । १३-२०) ।

५७-भागवतके मतके अनुसार भक्तके लक्षण—भगवान्‌में मन लगाकर (राग-द्वेषरहित हो) इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करता हुआ भी सारे विश्वको भगवान्‌की माया समझकर किसी भी वस्तुसे द्वेष या किसीकी आकाक्षा नहीं करनेवाला, हरिस्मरणमें संलग्न रहकर शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियके सांसारिक धर्म, जन्म-मरण, भूख-प्यास, भय, तृष्णा, कामना आदिसे मोहित न होनेवाला, कर्मके बीजरूप कामनासे रहित चित्तवाला, एकमात्र वासुदेवपर निर्भर करनेवाला. जन्म-कर्म-वर्ण-आश्रम और जातिसे शरीरमें अहंभाव न करनेवाला, धन और शरीरके लिये अपने-परायेका भेदभाव न रखनेवाला, सब प्राणियोंमें एक आत्मदृष्टिवाला, शान्त, त्रिभुवनका राज्य मिलनेपर भी आधे पलके लिये हरि-चरण-सेवाका त्याग न करनेवाला और जिस हरिका नाम विवश अवस्थामे अचानक मुखसे निकल जानेके कारण सब पाप नष्ट हो जाते हैं, उस हरिको प्रेमपाशमे बाँधकर निरन्तर अपने हृदयमे रखनेवाला (भागवत ११ । २ । ४८-५५) ।

५८-सनत्कुमार, व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान् और विभीषणादि भक्तिके आचार्य माने गये हैं (नारद-भक्ति-सूत्र ८३) ।

५९-इस भक्तिसाधनमें सबका अधिकार है, ब्राह्मण-चाण्डाल, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभीको भक्तिके द्वारा भगवान्‌के परमधामकी

प्राप्ति सम्भव है। भगवान्‌का आश्रय लेनेवाले अन्त्यज, स्त्री, वैश्य, शूद्र—सभी उत्तम गतिके अधिकारी हैं (गीता ९ । ३२) । भक्तिमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियाका भेद नहीं है (नारदसूत्र ७२)। निन्दित योनितक सबका भक्तिमें अधिकार है (शाण्डिल्यसूत्र ७८)। सभी देश और सभी जातिके मनुष्य भक्ति कर सकते हैं, क्योंकि भगवान् सबके हैं। चाण्डाल, पुक्कस आदि यदि हरि-चरण-सेवी हैं तो वे भी पूजनीय हैं (पद्मपुराण स्वर्ग० २४ । १०) ।

६०—भक्तिसे ही जीवन सफल हो सकता है, जो भगवान्‌से विमुख हैं वे लोहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ साँस लेकर जीते हैं (भागवत १० । ८७ । १७) । ऐसे लोगोंको घर, सन्तान, धन और सम्बन्धियोंको अनिच्छासे त्यागकर नीच योनियोंमें जाना पड़ता है (भागवत ११ । ५ । १८) ।

६१—भक्तका कभी नाश नहीं होता (गीता ९ । ३१) । सब प्राणियोंका निवास-स्थान समझकर भगवान्‌की भक्ति करनेवाला भक्त मृत्युको तुच्छातितुच्छ समझकर उसके सिरपर पैर रखकर (वैकुण्ठमें) चला जाता है (भागवत १० । ८७ । २७) ।

६२—भक्ति परमशान्ति और परमानन्दरूपा है। इसके साधनमें भी आनन्द है। परमात्माका सहारा होनेसे गिरनेका भी भय नहीं है। सच्चे सुखको पानेके लिये आजतक भक्तिके समान कोई भी साधन दुनियामें और नहीं मिला। अतएव भक्ति ही करनी चाहिये। यही एकमात्र अवलम्बन है।

भक्त ही संसारसे तरता है और सब लोगोंको तारता है।

(नारदसूत्र ५०)



भक्त

आजकल कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि भक्तिका साधन अत्यन्त सहज है। पाप-ताप, दुराचार-अनाचारमे फँसे रहते हुए भी हम पूर्ण भक्त बन सकते हैं। इसीसे आज भारतमें भक्तोंकी भरमार है। लोग काम, क्रोध, लोभ या दम्भवश भगवान्‌के दो-चार नाम लेकर या भक्तोंकी-सी पोशाक पहनकर अपनेको भक्त प्रसिद्ध कर देते हैं। यह नहीं सोचते कि भक्तको अग्नि-परीक्षा देनी पडती है, जहरकी घूँटको प्रसाद समझकर आदरपूर्वक पी जाना पड़ता है, सारे भोग-विलास और धन-जनकी आसक्ति छोड़कर प्रभुके प्रति सर्वात्मरूपसे आत्मसमर्पण करना पड़ता है। ज्ञानसे भगवत्-स्वरूपको समझकर स्वकर्मके द्वारा भगवान्‌की शुद्ध उपासना करनेसे ही भक्ति सिद्ध होती है। भक्त तो भगवान्‌का निज-जन होता है। उसके योगक्षेम-का, उसके रक्षणावेक्षणका सारा भार भगवान् उठा लेते हैं; अतएव भक्त सब प्रकारसे पाप-तापसे मुक्त होता है। वह संसारका सर्वोच्च आदर्श होता है, क्योंकि भगवान्‌के दिव्यगुणोंका उसीके अदर विकास हुआ करता है। ऐसा भक्त ही भगवान्‌को प्यारा होता है और ऐसे ही भक्तका उद्धार करनेके लिये भगवान् जिम्मेवारी लेते हैं। भक्त तो अपना हृदय, मन-बुद्धि, शरीर-परिवार, धन-ऐश्वर्य, वासना-कामना आदि सब कुछ भगवान्‌के चरणोमे अर्पणकर निश्चिन्त हो जाता है। वह सारे संसारमे अपने स्वामीको व्याप्त देखता है, इसीलिये वह अखिल विश्वके सकल चराचर जीवोंके साथ प्रेम करता और उनकी सेवा करनेके लिये पागल हुआ-सा घूमता है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

ऐसे अनन्य भक्तका जीवन प्रभुमय होता है, उसके समस्त कार्य प्रभुके कार्य होते हैं, वह प्रभुके ही परायण होता है, एकमात्र प्रभुका ही भजन करता है, ससारकी किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता और सर्वभूतोंके प्रति अपने साथ वैर रखनेवालोंके प्रति भी-निर्वैर रहता है। वह पहचानता है केवल अपने एक प्रभुको और संसारमे सर्वथा एव सर्वदा केवल उसीकी लीलाका विस्तार देखता है। जीवन-मरण दोनों ही उसके लिये समान सुखप्रद होते हैं।

'जीवन-मरण चरणके चाकर, चिन्तारहित चित्त है नित्य'

वह जीवनसे कभी ऊबता नहीं और मृत्युके भयसे कभी काँपता नहीं, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये यदि कभी उसके सामने मरणकी वह मूर्ति आती है जिसको लोग अत्यन्त भीषण मानते हैं, तो भक्तकी दृष्टिमें वह बड़ी मोहिनी होती है और वह बडे प्रेम तथा उत्साहसे उसका आलिङ्गन करनेको सामने दौड़ता है। वह समझता है कि इस मृत्युके रूपमें मेरे प्रभु ही मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करने और अपनी गोदमें उठा लेनेको पधारे हैं। *'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'* इस गीताकथित भगवान्‌के वाक्यका स्मरण करके वह हर्षोत्फुल्ल हृदयसे मृत्युका स्वागत करता है। यही कारण है कि भक्तगण अपने प्रभुकी सेवाके लिये धर्मकी वेदीपर हँसते-हँसते अपनी बलि चढ़ा देते हैं, अपने प्रभुके लिये प्राणोंको न्योछावर कर देना उनकी बुद्धिमें बडे गौरवका काम होता है। जहाँ, जिस समय, जिस प्रकारसे प्राण-दानके

लिये वे अपने भगवान्का आह्वान सुनते हैं, वहाँ उसी समय, उसी प्रकारसे प्राणोंकी आहुति देनेको वे वैसे ही दौड़े जाते हैं, जैसे कंगाल धनकी लूटके लिये दौड़ता है—

जो सिर साँटे हरि मिलै तो हरि लीजै दौर।
'नारायण' या देरमें गाँहक आवे और॥

मस्तकको तो वे हाथोंमे लिये घूमते हैं, अवसर ढूँढ़ते रहते हैं उसे प्रभुके चरणोंपर चढ़ा देनेका! जहाँ वह प्रभुके काम आ जाता है, वहाँ वे अपनेको परम धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। यही कारण है कि बडे-से-बड़ा भय भी उन्हें सन्मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। महान्-से-महान् दुःख भी उन्हें प्रभुके पथसे डिगा नहीं सकता—

'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥'

(गीता ६। २२)

प्रह्लादपर मत्त गजराज छोड़े गये, बड़े-बड़े विषधारी सर्पोंसे उसे डसवानेका प्रयत्न किया गया, जादू-टोने किये गये, पर्वतके ऊँचे शिखरोंसे उसे गिराया गया, मायाके द्वारा मारनेकी चेष्टा की गयी, काल-कोठरीमे बंद करके उसमें जहरीली गैस भर दी गयी और वह पर्वतोंके नीचे दबाया गया, परन्तु वह टेकका पक्का अटल विश्वासी भक्त न डरा, न मरा और न उसने अपनी टेक ही छोड़ी! हिरण्यकशिपुको हैरान होकर यह कहना पड़ा कि 'यह बालक होकर भी मेरे समीप किस निर्भयतासे बैठा है, मालूम होता है कि यह अत्यन्त सामर्थ्यवान् है। प्रह्लादमें क्या शक्ति थी? उसमें ऐसा कौन-सा अलौकिक बल था कि जिससे वह ऐसा कर सका? उसमें

भगवद्भक्ति थी, उसका हृदय भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण था, वह अपनेको सब प्रकारसे परमात्माके हाथोंमे सौंपकर सदाके लिये सब ओरसे निर्भय और निश्चिन्त बन चुका था एव उसका यह अटल विश्वास था—उसे वास्तवमें ऐसा ही दीखता था कि सारा ससार प्रभुमय है—जगत्की प्रत्येक वस्तु मेरे स्वामीका रूप है। इसलिये हिरण्यकशिपुने उसे मारनेके लिये जिन-जिन वस्तुओंका प्रयोग किया, वे सभी उसको ईश्वररूप दिखायी दीं। इस अवस्थामें ईश्वर अपने भक्तको क्यों मारने लगे प्रत्युत प्रह्लादके वचनको सत्य करनेके लिये—अपनी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष करा देनेके लिये—निराकार अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्याप्त परमात्मा स्तम्भको चीरकर अद्भुत रूपमे प्रकट हो गये—

प्रेम बढ़ो प्रह्लादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ़े।

मीराने हँसते-हँसते जहरका प्याला पी लिया, भक्त हरिदासने हरिनाम पुकारते-पुकारते बेंतोंकी मार सहर्ष सह ली और मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त कायर होते हैं, वे कायरताके कारण सब कुछ सह लेते हैं। कायर मनुष्य कभी सहनशील नहीं हो सकता, वह प्राणोंके भयसे भागता है, परन्तु मन-ही-मन बुरा मानता और शाप देता रहता है। भक्तोंका हृदय क्षमा, दया, अहिंसा और प्रेमादि सद्गुणोंसे भरा रहता है, इसीसे वे किसीका अनिष्ट नहीं करते, स्वय कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण चाहते हैं, बुरा करनेवालोंके प्रति भी भला बर्ताव करते हैं? इसी कारण न समझनेवाले लोग उन्हें दीन और कायर मान बैठते हैं। परन्तु वास्तवमें वे बड़े वीर होते हैं।

लिये वे अपने भगवान्का आह्वान सुनते हैं, वहाँ उसी समय, उसी प्रकारसे प्राणोंकी आहुति देनेको वे वैसे ही दौड़े जाते हैं, जैसे कंगाल धनकी लूटके लिये दौड़ता है—

जो सिर साँटे हरि मिलै तो हरि लीजे दौर।
'नारायण' या देरमें गाँहक आवे और॥

मस्तकको तो वे हाथोंमें लिये घूमते हैं, अवसर ढूँढ़ते रहते हैं उसे प्रभुके चरणोंपर चढ़ा देनेका! जहाँ वह प्रभुके काम आ जाता है, वहाँ वे अपनेको परम धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। यही कारण है कि बड़े-से-बड़ा भय भी उन्हें सन्मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। महान्-से-महान् दुःख भी उन्हें प्रभुके पथसे डिगा नहीं सकता—

'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥'
(गीता ६। २२)

प्रह्लादपर मत्त गजराज छोड़े गये, बड़े-बड़े विषधारी सर्पोंसे उसे डसवानेका प्रयत्न किया गया, जादू-टोने किये गये, पर्वतके ऊँचे शिखरोंसे उसे गिराया गया, मायाके द्वारा मारनेकी चेष्टा की गयी, काल-कोठरीमे बंद करके उसमे जहरीली गैस भर दी गयी और वह पर्वतोंके नीचे दबाया गया, परन्तु वह टेकका पक्का अटल विश्वासी भक्त न डरा, न मरा और न उसने अपनी टेक ही छोड़ी! हिरण्यकशिपुको हैरान होकर यह कहना पड़ा कि 'यह बालक होकर भी मेरे समीप किस निर्भयतासे बैठा है, मालूम होता है कि यह अत्यन्त सामर्थ्यवान् है। प्रह्लादमें क्या शक्ति थी? उसमें ऐसा कौन-सा अलौकिक बल था कि जिससे वह ऐसा कर सका? उसमे

भगवद्भक्ति थी, उसका हृदय भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण था, वह अपनेको सब प्रकारसे परमात्माके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये सब ओरसे निर्भय और निश्चिन्त बन चुका था एव उसका यह अटल विश्वास था—उसे वास्तवमें ऐसा ही दीखता था कि सारा ससार प्रभुमय है—जगत्‌की प्रत्येक वस्तु मेरे स्वामीका रूप है। इसलिये हिरण्यकशिपुने उसे मारनेके लिये जिन-जिन वस्तुओंका प्रयोग किया, वे सभी उसको ईश्वररूप दिखायी दीं। इस अवस्थामें ईश्वर अपने भक्तको क्यों मारने लगे प्रत्युत प्रह्लादके वचनको सत्य करनेके लिये—अपनी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष करा देनेके लिये—निराकार अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्याप्त परमात्मा स्तम्भको चीरकर अद्भुत रूपमे प्रकट हो गये—

प्रेम बढ़ो प्रह्लादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ़े।

मीराने हँसते-हँसते जहरका प्याला पी लिया, भक्त हरिदासने हरिनाम पुकारते-पुकारते बेंतोंकी मार सहर्ष सह ली और मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त कायर होते हैं, वे कायरताके कारण सब कुछ सह लेते हैं। कायर मनुष्य कभी सहनशील नहीं हो सकता, वह प्राणोंके भयसे भागता है, परन्तु मन-ही-मन बुरा मानता और शाप देता रहता है। भक्तोंका हृदय क्षमा, दया, अहिंसा और प्रेमादि सद्गुणोंसे भरा रहता है, इसीसे वे किसीका अनिष्ट नहीं करते, स्वय कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण चाहते हैं, बुरा करनेवालोंके प्रति भी भला वर्ताव करते हैं। इसी कारण न समझनेवाले लोग उन्हें दीन और कायर मान बैठते हैं। परन्तु वास्तवमें वे बडे वीर होते हैं।

क्षमा, अहिंसा और दया आदि वीरोंके धर्म हैं, कापुरुषोंके नहीं।

आजकल लोग भक्तिका स्वाँग धारण कर लेते हैं, परन्तु उनका हृदय नाना प्रकारके भयोंसे व्याकुल रहा करता है। वे भूत-प्रेतोंकी कल्पनाकर राह चलते काँप उठते हैं, छूतकी बीमारीके भयसे आत्मीय स्वजनोंकी भी सेवा छोड़कर निष्ठुरताका परिचय देते हैं, समाजके और झूठी इज्जतके भयसे प्रत्यक्ष पापयुक्त प्रथाओंको भी छोडना नहीं चाहते, दोष समझकर भी दूषित कार्यके परित्यागमे हिचकते हैं, जेल-जुर्मानेके भयसे अन्याय और अधर्मपूर्ण शासनका समर्थन करते हैं, धन-ऐश्वर्यकी हानिके डरसे सत्य, अस्तेय और अहिंसा आदि दैवी गुणोंका त्याग कर देते हैं और बात-बातमें अत्याचारियों और पापियोंकी चापलूसी करते एवं जान-बूझकर स्वार्थवश उनका पक्ष समर्थन करते हैं, यह सब भक्तिके लक्षण नहीं। भक्त डरकर कभी अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता, न वह लोभ या भयवश पाप करता है, न किसी अधर्मके त्यागमें हिचकता है, न रोग या प्राणके भयसे सेवा छोड़ता है और न कभी अन्यायका समर्थन करता है। वह तो परमात्माके अभय चरणोका आश्रय पाकर भयको सदाके लिये भगा देता है, वह नित्य निर्भय होता है, सबके साथ विनयका बर्ताव करना एवं मधुर तथा हितकर वचन बोलना तो उसका स्वभाव बन जाता है; परन्तु सत्य कहनेमें वह कभी कालसे भी नहीं डरता। जब मनुष्य मामूली पुलिस अफसर या मैजिस्ट्रेटकी शरण लेकर अपनेको निर्भय मान लेता है, तब जिसने कालके भी महाकाल, यमराजके भी भयदाता भगवान्‌के अभय चरणोंकी शरण ग्रहण कर

ली है, वह किसीसे क्यों डरेगा ? माताकी सुखद गोदमें स्थित बालकको किसका भय और किस बातकी चिन्ता रहती है ? जो अपनेको सर्वोपरि 'माता-धाता-पितामह' भगवान्‌का भक्त समझकर भी भयभीत रहते हैं, वे न तो भगवान्‌का प्रभाव जानते हैं और न वे यथार्थमे भगवान्‌के सम्मुख ही हो सकते हैं। भगवान्‌की शरण हो जानेपर तो भयके लिये कहीं जरा-सा भी स्थान नहीं रह जाता! एक बार भी शरण आ जानेवाले भक्तको अभय कर देना तो भगवान्‌का व्रत है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६।१८।३३)

सच्चा भक्त अपने किसी अनिष्टकी आशङ्कासे सन्मार्गका— ईश्वर-सेवाका कदापि त्याग नहीं करता। तन, मन, धन सभी कुछ प्रभुकी ही तो सम्पत्ति है, फिर उन्हें प्रभुके काममे लगा देनेमें अनिष्ट कैसा ? यह तो बडे ही गौरव और आनन्दका विषय है। इसीसे यदि असहाय रोगीकी सेवा करते-करते भक्तके प्राण चले जाते है या भूखे-गरीबोंका पेट भरनेमें भक्तकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है तो वह अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझता है!

भगवच्चिन्तन और भगवन्नाम-स्मरण तो उसके प्राणोंकी क्रियाके सदृश स्वाभाविक बन जाते हैं। भगवत्सेवाके सिवा ससारमें उसका और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। उसका सोना-जागना, खाना-पीना, उठना-बैठना, कहना-सुनना और जीना-मरना सब भगवान्‌के लिये होता है। वह ससारमे इसीलिये जीवन धारण करता है कि उसके स्वामी भगवान् उसको इस नाम-रूपमें जीवित देखना चाहते हैं। उसको न तो ससारकी कुछ परवा होती है और न वह ससार-

को छोडना ही चाहता है; न उसका भोगोंमें राग होता है और न वह संन्यासका विरोध ही करता है। वह तो अपने स्वामीके इच्छानुसार बर्तता है, प्रभुके नचाये नाचता है, यन्त्रीके हाथका यन्त्र बना रहता है। वह मानापमान या सुख-दुःखकी ओर ध्यान नहीं देता, उसके अपमान या दुःखमे स्वामीका खेल—स्वामीकी लीला ठीक होती है तो उसको उन्हींमे आनन्द आता है। उसके मान या सुखसे प्रभुकी लीलाका अभिनय पूर्ण होता है तो वह मान, सुखको धारण कर लेता है। न तो वह भोगियोकी भाँति मान या सुखके लिये स्पृहा करता है और न वह संन्यासियोंकी भाँति मान या सुखका विरोध ही करता है। जिस बातसे, जिस खेलसे प्रभु प्रसन्न होते हैं, जिस आचरणसे प्रभुकी लीलामे पूर्णता आती है, प्रभुके गुप्त सङ्केतसे वह लज्जा-भय या हानि-लाभका विचार छोडकर उसीमे लग जाता है। वह उसीमे अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, इस आनन्दके सामने ससारके भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है, वह मोक्षसुखको भी तुच्छ समझता है! मुक्ति देनेपर भी वह उसे ग्रहण नहीं करता, उसे तो स्वामीके इच्छानुसार उसकी सेवामे ही परम सुख मिलता है—'*दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।*' ऐसा भक्त प्राणीमात्रका सहज मित्र होता है, वह अपने स्वार्थवश भोग, सुख, साम्राज्य या स्वर्गके लिये किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, किसीको किञ्चित् भी कष्ट नहीं पहुँचाता। परन्तु प्रभुके लिये, प्रभुकी लीलाके लिये, प्रभुके इङ्गितसे धर्मयुद्धमें वह विपक्षियोंसे लोहा लेनेको, मरने-मारनेको भी सहर्ष प्रस्तुत रहता है।

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, भय, मान, स्वार्थ, वैर, हिंसा, प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण उसके हृदयसे समूल नष्ट हो जाते हैं और दया, अहिंसा, क्षमा, शूरता, नम्रता, सेवा, पवित्रता, निःस्वार्थता प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य, शम, दम, भोगोंमें अनासक्ति, वैराग्य, प्रभु-भावसे सबमें आसक्ति, अमानिता, प्रभुका अभिमान, सन्तोष एवं समता आदि धर्म उसमें भक्तिके आनुषङ्गिक गुणोंके रूपमें स्वभावसे ही प्रकट हो जाते हैं। उत्साह, तत्परता, श्रद्धा, विश्वास, शान्ति और आनन्द आदि उसके नित्य सहचर रहते हैं। वह न किसीको दबाता है, न किसीसे दबता है, न किसीको डराता है, न किसीसे डरता है और न किसीको उद्विग्न करता है, न किसीसे उद्वेगको प्राप्त होता है।

वह सबका सुहृद्, सबका आत्मीय, सबका बन्धु और सबका सच्चा सेवक होता है। वह सत्यका स्वरूप, धैर्यका सागर, क्षमाका धाम, तेजका पुञ्ज, निर्भयताकी मूर्ति और प्रेमका भण्डार होता है। उसके पवित्र और आदर्श व्यवहारसे प्रभावान्वित होकर जगत्‌के मनुष्योंका हृदय स्वभावसे ही भगवान्‌की ओर झुक जाता है। ऐसा भक्त ही यथार्थमें भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय और विश्वासी सन्देशवाहक होता है। वह नित्य भगवान्‌में निवास करता है और भगवान् सदा उसके हृदय-मन्दिरमें विराजते हैं—

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६ । ३०)



भगवत्कृपा और भक्त

बहुत-से लोगोंकी ऐसी धारणा है कि जब भगवान्‌की कृपा होती है तब धन-ऐश्वर्य, स्त्री-पुत्र, मान-कीर्ति और शरीरसम्बन्धी अनेकानेक भोगोंकी प्राप्ति होती है। जिन लोगोंके पास भोगोंका बाहुल्य है—बस, केवल उन्हींपर भगवान्‌की कृपा है या भगवत्कृपा उनपर है कि जिनकी विपत्तिको भगवान् टाल देते हैं! भगवत्कृपाका इस प्रकार क्षुद्र अर्थ करनेवाले लोग बड़े ही दयाके पात्र हैं, ऐसे लोगोंको भगवत्कृपाका यथार्थ अनुभव नहीं है!

वास्तवमें सम्पत्ति या विपत्तिसे भगवान्‌की कृपाका पता नहीं लग सकता, भगवत्कृपा नित्य है, अपार है और संसारके समस्त प्राणियोंपर उस कृपा-सुधाकी अनवरत वर्षा हो रही है। जो लोग

उसका यथार्थ अनुभव न कर केवल विषयोंकी प्राप्तिको ही भगवत्कृपा समझते हैं वे ही लोग विषयोंके नाश या अभावमे भगवान्पर पक्षपात, अन्याय और कृपालु न होनेका कलक मँढा करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्का कोई भी विधान कृपासे शून्य नहीं होता, कृपा करना तो उसका साधारण स्वभाव है। पापी प्राणीके दण्ड-विधानमे भी वह अपनी कृपाका समावेश कर देता है। यह दूसरा प्रश्न है कि उसकी कृपाका स्वरूप कैसा होता है? इसमे कोई सन्देह नहीं कि कृपाका भीतरी स्वरूप तो सदा ही सरस, मनोहर और मधुर होता है, परन्तु बाहरसे वह कभी *'सुन्दर सुन्दराणाम्'* (सुन्दर-से-सुन्दर) स्वरूपमें दर्शन देती है तो कभी *'भीषण भीषणानाम्'* (भयानक-से-भयानक) रूपमें प्रकट होती है। किसी समय उसका रूप *'मृदूनि कुसुमादपि'* (पुष्पसे भी अधिक कोमल होता है) तो किसी समय *'वज्रादपि कठोराणि'* (वज्रसे भी अधिक कठोर होता है!) जिन विवेकी और कल्याणकामी पुरुषोने विषयोकी प्राप्तिके लिये भगवान्को साधन नहीं बना रक्खा है, जो सच्चे त्यागी और प्रेमी हैं वे तो इन दोनो रूपोंमे उस 'अनूप-रूप' की अनोखी अनुकम्पाका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं परन्तु जो अल्पबुद्धि प्राणी केवल आपात-रमणीय विषयोंको ही एकमात्र सुखका साधन मानते हैं वे अपरिणामदर्शी और अविवेकी मनुष्य भगवत्कृपाके मनोहर रूपको देखकर तो अत्यन्त आह्लादित होते हैं और उस भीषण रूपको देखकर भयसे काँप उठते हैं।

किसी अबोध बालकके एक जहरीला फोडा हो गया, असहनीय

वेदना है, बालककी माताने डाक्टरको बुलवाया, डाक्टरने चीरा लगवानेका परामर्श देते हुए कहा कि यदि बहुत शीघ्र शस्त्रक्रिया (आपरेशन) नहीं की जायगी तो फोड़ेका विष समस्त शरीरमे फैल जायगा और ऐसा होनेसे बालकके मर जानेकी सम्भावना है ! माताने बालकका हित समझकर चीरा लगवाना स्वीकार किया, डाक्टर साहेब चीरा देने लगे। उस समय उस अपरिणामदर्शी अबोध बालकने शस्त्रक्रियाकी क्षणिक वेदनासे व्यथित होकर बडे ज़ोर-जोरसे रोना आरम्भ कर दिया और चीरा दिलवानेवाली माताको प्रत्यक्ष शत्रु समझकर बुरी-भली कहने लगा।

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥

माताने बालकके रोने और बकनेकी कोई परवा नहीं की, उसे और भी ज़ोरसे पकड लिया, शस्त्रक्रिया हो गयी, चीरा लगाते ही अदरका सारा विष बाहर निकल पड़ा, बालककी समस्त पीडा मिट गयी और वह सुखपूर्वक सो गया !

बालक अज्ञानसे चीरा लगवानेमे रोता है और समझदार लोग जान-बूझकर चीरा लगवाते हैं। बस, इसी दृष्टान्तके अनुसार—

तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

भगवान् भी अपने प्यारे भक्तके समस्त आन्तरिक दोषोंको निकालकर बाहर फेंक देनेके लिये समय-समयपर शस्त्रक्रिया (आपरेशन) किया करते हैं, उस समय सासारिक सङ्कटोंका पार

नहीं रहता, परन्तु इस सारी रुद्र-लीलामें कारण होता है केवल एक 'भक्तकी आत्यन्तिक हित-कामना !' जिस प्रकार दयामयी जननी अपने प्यारे बच्चेके अङ्गका सडा हुआ अंश कटवाकर फेंक देती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने प्यारे बच्चोंकी हितकामनासे उनके अदरके विषय-विषको निकालकर फेंक दिया करते हैं। ऐसी अवस्थामें परिणामदर्शी विश्वासी भक्तोंको तो आनन्द होता है और विषयासक्त अज्ञानी मनुष्य रोया-चिल्लाया करते हैं।

जिस समय भगवान् वामनदेवने अनुग्रहपूर्वक विराट् स्वरूप धारणकर भक्त बलिको बाँध लिया और इन बन्धनोंको बलिने भगवान्‌का परम अनुग्रह माना, उस समय बलिके पितामह परम भक्त प्रह्लादजी वहाँ आये। भगवत्कृपाका मर्म जाननेवाले प्रह्लादजीने आते ही भगवान्‌से कहा कि—

'हे भगवन् ! आपने ही इसको यह समृद्धिसम्पन्न इन्द्रपद दिया था और इस समय आपने ही इसको हर लिया, मेरी समझसे आपने इसे राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट करके इसपर बडा अनुग्रह किया। लक्ष्मीको पाकर मनुष्य अपनेको भूल जाता है। जिस लक्ष्मीसे विद्वान् और सयमी पुरुष भी मोहित हो जाते है उस लक्ष्मीके रहते हुए कौन पुरुष आत्मतत्त्वको यथार्थरूपसे जान सकता है ? अतएव आपने हमपर बड़ी दया की।' यह है भक्तके विश्वासकी वाणी, यह है अशुभमें भी शुभका दर्शन और यह है भक्तोंका भगवान्‌पर दृढ भरोसा !

भगवान्‌ने भी प्रह्लादके इस कथनका समर्थन करते हुए कहा कि 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ उसका धन-वैभव पहले हर लेता हूँ,

क्योंकि मनुष्य धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे मतवाला होकर समस्त जीवोंका और मेरा निरादर करता है।'

जिस धन-सम्पत्तिसे इतना अनर्थ होता है, केवल उसीकी प्राप्तिमें परमात्माकी कृपा मानना कितनी बड़ी भूल है! परन्तु उपर्युक्त भगवान्के वचनोंसे कोई यह समझकर न काँप उठे कि भगवान् तो अपने भक्तोंके धन-ऐश्वर्यका नाश ही किया करते हैं। यह बात नहीं है! विभीषणको लंकाका अटल राज्य, ध्रुवको अचल सम्पत्ति और दरिद्र सुदामाको अतुल ऐश्वर्य भगवान्ने ही तो दिया था। जैसी अवस्था होती है वैसी ही व्यवस्था की जाती है!

एक सद्वैद्य रोगीके रोगका निदान कर उसे वही औषध देता है जो उसके रोगका नाश करनेवाली होती है, वह इस बातको नहीं देखता कि दवा कड़वी है या मीठी, रोगीके मनके अनुकूल है या प्रतिकूल, रोगीकी इच्छाकी वह कोई परवा नहीं करता। रोगी कुपथ्य चाहता है तो वैद्य उसे डाँट देता है, उसके बकने-झकनेकी ओर कोई खयाल नहीं करता और उसके मनके सर्वथा विपरीत उसके लिये कड़वे क्वाथकी व्यवस्था करता है, वह दूसरे दवा बेचनेवालोंकी भाँति मूल्य प्राप्त होते ही मुँहमाँगी दवा नहीं दे देता, उसे चिन्ता रहती है रोगीके हिताहितकी। उसका उद्देश्य होता है केवल 'रोगका समूल नाश कर देना!' इसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंमेंसे जिसके जैसा रोग देखते हैं उसके लिये वैसी ही औषधकी व्यवस्था करते हैं। अन्यान्य देवताओंकी भाँति मुँहमाँगा वरदान नहीं दे देते! उसकी इच्छा क्या है, इसका कोई खयाल नहीं करते बल्कि कोई-कोई समय

तो उसके मनके सर्वथा विपरीत कर देते हैं। एक बार भक्तराज नारदने मायासे मोहित होकर विवाह करना चाहा, भगवान्‌से प्रार्थना भी की, परन्तु भगवान् जानते थे कि इससे इसका अहित होगा, यह भव-रोगीके लिये कुपथ्य है, इसलिये विवाह नहीं होने दिया। नारदको क्रोध आ गया, उन्होंने झुँझलाकर भगवान्‌को बहुत बुरा-भला कहा, शाप दे दिया। भगवान्‌ने भक्तके शापको सहर्ष ग्रहण किया, परन्तु उसे कर्तव्यच्युत नहीं होने दिया।

रोगमुक्त होकर मनुष्य जब बलको प्राप्त कर लेता है तब उसे सभी कुछ खाने-पीनेका अधिकार मिल जाता है, इसी प्रकार भवरोगसे मुक्त होकर भगवत्-प्राप्ति कर लेनेपर उसको जब भगवान्‌के सर्वस्वका स्वामित्व प्राप्त हो जाता है तब फिर उसे किस बातकी कमी रहती है और कौन-सी बातमे बाधा रहती है? मनुष्य भूलकर सासारिक धन-ऐश्वर्यके लिये लालायित रहता है। यदि चेष्टा करके वह उस अतुल ऐश्वर्यशाली परमात्माको—जिसके एक अगमें यह सारे ऐश्वर्योंसे भरा हुआ संसार महान् समुद्रमे एक बालूके कणके समान स्थित है—प्राप्त कर ले तो फिर उसे समस्त पदार्थ आप-से-आप प्राप्त हो जायँ!

राजा बलिने भगवत्कृपाके विकट स्वरूपसे न घबड़ाकर उसका सादर स्वागत किया। बलिका समस्त धन-ऐश्वर्य हरण कर लिया गया। अग्नि-परीक्षा हुई, परन्तु उस परीक्षामे उत्तीर्ण होनेके बाद भक्त बलिको उस रमणीय और समृद्धिसम्पन्न सुतललोकका राज्य दिया गया कि जिसकी देवता भी अभिलाषा करते है, जहॉपर भगवत्कृपासे कभी आधि-व्याधि, भ्रान्ति, तन्द्रा, पराभव और किसी प्रकारका भी

भौतिक उपद्रव नहीं होता। इतना ऐश्वर्य देकर ही भगवान् चुप नही हो गये, उन्होंने बलिको सावर्णि-मन्वन्तरमे इन्द्र होनेके लिये वर दिया और प्रह्लादसे बोले कि, 'वत्स प्रह्लाद! तुम अपने पौत्रसहित सुतललोकमे जाकर जातिके लोगोको सुख पहुँचाते हुए आनन्दसे रहो, वहाँ तुम मुझको सदा गदा हाथमे लिये हुए बलिके द्वारपर सब समय देखोगे।' यो बलिके द्वारपर द्वारपाल होना स्वीकार किया और अन्तमे उसको अपना परमधाम प्रदान किया, क्या यह परम अनुग्रह नही है? भगवान्ने हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, रावण-कुम्भकर्ण और शिशुपाल-दन्तवक्त्रका क्रमशः चार बार अवतार धारण करके वध किया। किसलिये? उनपर प्रेम था, उनपर कृपा करनी थी इसलिये! ऋषिके शापसे भ्रष्ट अपने द्वारपाल जय-विजयको शापसे मुक्त करनेके लिये! मृत्युसे अधिक भयानक बात और क्या हो सकती है? परन्तु भगवान्के द्वारा होनेवाली मृत्युमे भी उनकी कृपा भरी हुई होती है। दुष्टोंका नाश भगवान् क्यो करते हैं? उनके उद्धारके लिये—उनको पापोसे मुक्तकर अपने सुख-शान्तिमय परमधाममे पहुँचानेके लिये, भक्तगण दिव्य-दृष्टिसे इसको देख पाते हैं!

यह कोई नियम नहीं है कि भगवान्के भक्तपर कोई सासारिक कष्ट न आवे या उसे सासारिक सुख सर्वथा ही न प्राप्त हो। समय-समयपर दोनोंकी ही कर्मानुसार प्राप्ति होती है, परन्तु दोनोमे ही भगवत्कृपाका विलक्षण समावेश रहता है। इस कृपाका यथार्थ दर्शन उन्हीं भाग्यवानोंको होता है जो सुख-दुखमें समचित्त होते हैं और जो परमात्मासे कुछ भी सांसारिक वस्तु चाहकर उसकी अपार महिमा और अपनी भक्तिमें दोष नहीं आने देते। भक्त अपनी भक्ति और

प्रेमिक अपने प्रेमसे क्या चाहते हैं? वही भक्ति और प्रेम! वास्तवमे ऐसे भक्तोंके हृदयमें भगवत्प्रेमके प्रति ऐसा प्रबल आकर्षण होता है कि वे उसको पानेके लिये किसी भी विपत्तिको विपत्ति नहीं समझते।

जो कभी संसारकी ओर ताकता है और कभी परमात्माकी ओर, वह पूरा प्रेमी नहीं है। उसको अभी भगवत्-प्रेमकी प्रबल उत्कण्ठा नहीं हुई। संसार रहे या जाय, घर उजडे या बसे, किसी बातकी भी परवा नहीं, परन्तु प्रेममे कोई बाधा न आवे। यही सची लगन है।

माता यदि छोटे शिशुको मारती है तो भी वह उसीकी गोदमे घुसता है और यदि वह पुचकारती है तब भी वह उसीके पास रहता है, माताकी गोदको छोडकर शिशुको और कहीं चैन नहीं पडता। इसी प्रकार भक्तको भी अपने भगवान्को छोडकर और कहीं विश्राम नहीं मिलता। वह मारे, चाहे प्यार करे। भक्त एक क्षण भी उसके बिना रहना नहीं चाहता। सम्भव है कि भक्तपर विपत्तियोंके बादल चारो ओरसे मँडराने लगें—यह भी सम्भव है कि उसका समस्त जीवन केवल सासारिक विपत्तियोंमे ही बीते, और एक क्षणभरके लिये भी विपत्तिका अभाव न हो तथापि उसका मन उस प्रेमानन्दमे इतना मग्न रहता है कि उसको भूलकर भी भगवत्कृपाके सम्बन्धमें कभी किञ्चित् भी सन्देह नहीं होता।

चातकपर यदि उसका प्रियतम मेघ पत्थरोंकी वर्षा करे तो क्या वह मेघसे प्रेम करना छोड़ देता है? क्या उसके प्रेममे कुछ भी अन्तर पड़ता है? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

भयानक वज्रपातसे उसके प्राण भले ही चले जायँ परन्तु प्रेमी चातक दूसरी तरफ नहीं ताकता। इसी प्रकार भक्त भी नित्य निश्चिन्त होकर रहता है 'उसे न तो दुःखोमें उद्वेग होता है और न उसको सुखोकी स्पृहा रहती है।' भगवान् कहते हैं–

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है और न किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा करता है, जो शुभाशुभ दोनोंका त्यागी है वह भक्तिमान् (पुरुष) मुझको प्रिय है।'

इस प्रकार भक्त, जैसे सम्पत्तिमे उसीकी मूर्ति देखकर सन्देहशून्य रहता है वैसे ही विपत्तिमें भी उसीकी मनोमोहिनी मधुर छबिका दर्शनकर निःसंशय रहता है।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि लौकिक दृष्टिसे समय-समयपर भगवत्कृपाका स्वरूप बड़ा ही भीषण होता है। प्रह्लाद अग्निमें डाला जाता है, मीराको विषका प्याला दिया जाता है, सजनके हाथ काटे जाते हैं और हरिदासकी पीठसे बेंतोंकी मारसे खून बहने लगता है, परन्तु धन्य है उन प्रेमी और प्रेमके उपासक भक्तोंको, कि जो प्रत्येक अवस्थामें शान्त और निश्चिन्त देखे जाते हैं। उनकी स्थिरतामे

तिलभर भी अन्तर नहीं पडता । कितने प्रगाढ विश्वास और भरोसेकी बात है ! एक जरा-सा कॉटा गड जानेपर चिल्लाहट मच जाती है--अग्निकी ज़रा-सी चिनगारीका स्पर्श होते ही मन तलमला उठता है परन्तु वे भक्तगण, जो परमात्माके प्रेमके लिये अपने-आपको खो चुके है,---बडे चावसे सारी यातनाओं और क्लेशोंको सहते हैं । उन ईश्वरगतप्राण भक्तोंको, प्रेमके लिये न शूलीपर चढनेमें भय लगता है और न धधकती हुई अग्निमें कूदनेमे ही । प्रेमके लिये मस्तकको तो वे हाथोंमें लिये फिरा करते हैं !

प्रेम न वाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट विकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै, शीश देइ लै जाय ॥

लोग कहते हैं 'देखो वेचारेको कितना कष्ट हो रहा है, वेचारेने सारे जीवन रामका नाम लिया, परन्तु कभी सुखकी नींद नहीं सोया ' आजकल भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं रहा । यह तो वेचारा चौवीसों घटे भजन करता है और इसीपर दुःखोंके पहाड़ टूटकर पड़ते हैं ।"

लोगोंकी ऐसी भोली वातोंको सुनकर वे भक्त---विपत्ति-सम्पत्तिको लात मारकर ऊँचे उठे हुए भक्त---मन-ही-मन हँसते हैं और उनपर दया करते हैं ।

वे सासारिक लोग इस वातको नहीं जानते कि भगवान् कभी किसीको कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते । भक्तके सामने भगवान् जो दुःखोंका रूप प्रकट करते है सो केवल उनके कल्याणके लिये ही करते हैं । यदि केवल सुखमें ही भगवान्‌का रूप दीख पड़ता हो तो क्या दु खमें उनका अभाव है ? यदि सुखमें उनकी व्यापकता है तो

दुःखमे भी है ! कोई भी ऐसी अवस्था या कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं कि जिसमें वह नहीं हों। इसी बातको पूर्णरूपसे प्रकट करनेके लिये भगवान् अपने भक्तोंके सामने दोनों खरूप प्रकट करते हैं। जब भक्त इस पहेलीको समझ लेता है तब वह सब तरहसे और सब ओरसे भगवान्को पहचान लेता है। साधारण लोग एक तरफ देखते है, इसीसे वे सुखकी मूर्तिको देखकर हँस उठते है और दु.खकी मूर्तिको देखकर काँप उठते हैं। परन्तु जो भक्त है वे दोनोंमे ही उनको देख पाते हैं इसीसे उनको न तो दुःखसे द्वेष है और न सुखसे अधिक अनुराग। दाहिना और बायाँ दोनों उसीके तो हाथ हैं। भक्त किसी भी अवस्थामे इस ध्रुवसे अपनी दृष्टि नहीं हटाते, बल्कि वे तो दूसरे लोगोंको दुःखोसे घबड़ाया हुआ जानकर भगवान्से उलटे यह प्रार्थना करते है—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९।२१।१२)

'हे नाथ ! मैं (आप) परमेश्वरसे अणिमादि आठ सिद्धियोंसे युक्त गति या मुक्तिको नहीं चाहता, मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर दुःख भोग करूँ जिससे उन सबका दुःख दूर हो जाय।'

परम भक्त प्रह्लादने कातरकण्ठसे कहा था कि 'हे प्रभो ! मेरा

चित्त तो आपके चरित्रगानरूपी सुधा-समुद्रमें निमग्न है, मुझे संसारसे कोई भय नहीं, परन्तु मैं इन इन्द्रियोंके सुखोंमें लिप्त और भगवत्-विमुख दीन असुर बालकोंको छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता।'

यह है भक्तोंकी वाणी! संसारभरका दुःख वे अपने मस्तकपर उठानेको प्रस्तुत हैं। दीन-दुखियोंका उद्धार हुए बिना अकेले अपना उद्धार नहीं चाहते, कष्ट देनेवालेके लिये भी भगवान्‌से क्षमा चाहते हैं, अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं! परवा क्यों हो? उन्हें तो कष्टोंकी भीषण मूर्तिके अंदर उस सलोने श्यामसुन्दरकी नव घनश्याममूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है न! वे तो सब ओरसे अपना सारा अपनापन उसे सौंपकर उसकी कृपासुधाकी अनन्त और शीतल धारामें अवगाहन कर कृतार्थ हो चुके हैं और क्षण-क्षणमें उन्हें भगवत्कृपाके दिव्य दर्शन होते हैं! इसीसे वे समस्त सुख और दुःखभारको केवल भगवत्प्रसाद समझकर सानन्द ग्रहण करते हैं! कोई स्थिति उन्हें विचलित नहीं कर सकती, वे उस परम लाभको पाकर नित्य उसीमें रमण करते हुए प्रेमके परमानन्दमें निमग्न रहते हैं! भगवान्‌ने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

'(भक्त) परमात्माकी प्राप्तिरूप लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्प्राप्तिरूप अवस्थामें स्थित (वह) भक्त बड़े-से-बड़े दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'



ईश्वरभक्त

ईश्वरभक्त निर्भय होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत्मे अपने सच्चे प्रेमी सखाकी मनोहर मूर्तिका दर्शन करता हुआ सर्वदा उसे गले लगानेको तैयार रहता है।

ईश्वरभक्त अदम्भी होता है, क्योंकि वह ईश्वरको घटघटव्यापी देखता है। इससे उसके अंदर-बाहर भेद नहीं रह सकता।

ईश्वरभक्त अक्रोधी होता है, क्योंकि वह सारे जगत्में अपने एक प्राणारामको ही देखता है, फिर किसपर कैसे क्रोध करे?

ईश्वरभक्त निरभिमानी होता है, क्योंकि वह अपना सारा अभिमान अपने प्रभुके चरणोंमे समर्पण कर चुकता है, उसके पास अभिमान बचता ही नहीं।

ईश्वरभक्त अकामी होता है, क्योंकि पूर्णकाम परमेश्वरकी प्राप्तिसे उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

ईश्वरभक्त निर्लोभी होता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें अपने एक श्यामसुन्दर सलोने साँवरेके अतिरिक्त अन्य कोई लोभनीय वस्तु रहती ही नहीं।

ईश्वरभक्त सदा परम सुखी रहता है, क्योंकि वह परमसुखरूप परमात्मामें अपना अस्तित्व मिलाकर वैसा ही बन जाता है।

ईश्वरभक्त निर्मोही होता है, क्योंकि परम मायावीकी शरणागतिसे उसकी विद्याका मर्म समझनेके कारण मायाका कोई कार्य उसे मोहित नहीं कर सकता।

ईश्वरभक्त निरहंकारी होता है, क्योंकि वह अपने ईश्वरके 'अहं' में अपने 'अहं' को सर्वथा मिटा देता है।

ईश्वरभक्त परम प्रेमी होता है, क्योंकि वह परमात्माके परम प्रेमी स्वभावको पा चुकता है।



भगवत्-प्रेमी

जो लोग भगवान्की खोजमे निकलते हैं, जिन्हे भगवान्से मिलनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा होती है, वे राहमे बड़े भारी इन्द्रिय-सुखोको देखकर रुकते नहीं और महान् दुःखोको देखकर घबड़ाते नही। वे तो अटल धैर्यके साथ बिना दूसरी ओर ताके चुपचाप अपनी राह चले ही जाते हैं।

जो सुख पाकर उनमें रम जाते हैं और दुःखोंसे घबड़ाकर आगे बढना छोड़ देते हैं, वे भगवान्के लिये वास्तवमें आतुर नहीं हैं। सच्ची बात यह है कि सासारिक दुःखोंसे बचने और सांसारिक सुखोकी खोजके लिये ही वे निकले हैं, भगवान्के लिये नहीं।

जिनको भगवान्‌की लगन लग जाती है, वे तो उसीके लिये मतवाले हो जाते हैं, उन्हें दूसरी चर्चा सुहाती ही नहीं, दूसरी बात मन भाती ही नहीं, विषय-सुखकी तो बात ही क्या है, वे ब्रह्माके पदको भी नहीं चाहते ।

जिनको भगवान्‌से प्रेम हो गया है और जो अपने उस परम प्रेमीके चिन्तनमें ही सदा चित्तको लगाये रखते हैं वे सारे त्रैलोक्य-का वैभव मिलनेपर भी आधे क्षणके लिये भी चित्तको प्रियतमके चिन्तनसे नहीं हटाते । ऐसा भागवतकार कहते हैं ।

जो भगवान्‌के प्रेमी हैं, उन्हें यदि भगवत्प्रेमके लिये नरक-यन्त्रणा भी भोगनी पडे तो उसमे भी उन्हे भगवदिच्छा जानकर आनन्द ही होता है । उन्हें नरक-स्वर्ग या दु ख-सुखके साथ कोई सरोकार नहीं । वे तो जहाँ, जिस अवस्थामें अपने प्रियतम भगवान्-की स्मृति रहती है, उसीमें परम सुखी रहते है, इसीसे देवी कुन्तीने दु खका वरदान माँगा था ।

भगवान्‌के प्रेमियोंकी दृष्टिमे यह दुनियाँ इस रूपमें नहीं रहती । उनके लिये सारी दुनियाँ ही बदल जाती है, उन्हें दीखता है सब कुछ भगवान्‌का, सब कुछ भगवान् और सब कुछ भगवान्‌की लीला । फिर वे किसमे, कहाँ और क्योंकर सुख-दु ख समझें ?

गीतामे भगवान् कहते है 'जो सर्वत्र मुझको देखता है और सबको मुझमे देखता है, उससे मैं अलग नहीं होता और वह मुझसे अलग नहीं होता ।'

बुद्धिवाद और भक्ति

इस स्थूल बुद्धिवादके अतिशय विस्तारकालमे बुद्धिवादके विरुद्ध कुछ कहना अवश्य ही बुद्धिकी मन्दता समझी जायगी, परन्तु अपने विचार—अपनी मन्दातिमन्द बुद्धिके अनुभूत विचार, जिनका भक्ति-मार्गसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, केवल भक्ति-प्रेमी पाठक-पाठिकाओंके सम्मुख उपस्थित कर देना कर्तव्य समझकर ही यह साहस किया गया है। बुद्धिवादके विरोधका अर्थ बुद्धिका सर्वथा विरोध नहीं समझना चाहिये। भगवद्भक्तिमे जिस बुद्धिकी आवश्यकता है, उस बुद्धिका व्यवहार करना ही बुद्धिमानी है, परन्तु जहाँ बुद्धिके अनर्थक विस्तारसे अन्तःकरणमे विपरीत भाव प्रादुर्भूत होकर सत्त्व-मुखी श्रद्धाके स्रोतको सुखाने लगे, वहाँ बुद्धिमान् भक्तोंके लिये वैसी बुद्धिको नतमस्तक हो नमस्कार करके श्रद्धा देवीका आश्रय ग्रहण करना ही सर्वथा श्रेयस्कर होता है। स्थूल बुद्धिवादसे मेरा मतलब यहाँ तर्कसे है। भक्तिमें तर्क एक बहुत बडी बाधा है। जितना अन्धश्रद्धासे गिरनेका भय है, परमार्थके मार्गमे उससे कहीं अधिक भय अतिरिक्त तर्कशीलतासे है। तार्किक मनुष्य बालकी खाल खींचनेमें ही जीवनका अमूल्य समय पूरा कर देते हैं, वह परमार्थके किसी भी पथपर आरूढ नहीं रह सकते। परन्तु श्रद्धालु यात्री उतने ही समयमें अपने लक्ष्यस्थानका बहुत-सा रास्ता तय कर लेते हैं।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि एक आमके बगीचेमें दो मनुष्य गये, वहाँ पहुँचनेपर एक तो बगीचेकी जमीन नापकर और पेड़ गिनकर उसके मूल्यका अनुमान लगाने लगा और दूसरा मालीकी आज्ञासे एक जगह बैठकर चुपचाप चुने हुए आम खाने लगा। बतलाइये, इन दोनोंमें बुद्धिमान् कौन है, पेड़ गिननेवाला या आम खानेवाला? उत्तर मिलता है कि आम खानेवाला ही बुद्धिमान् है, क्योंकि वही सारग्राही है और तृप्ति भी उसीकी होती है। इसी प्रकार श्रद्धापूर्वक भगवान्का भजन करनेसे ही मनुष्यको यथार्थ आनन्द लाभ होता है। शास्त्रोंके अनवरत अध्ययन करनेसे, शास्त्रोंकी शाब्दिक परीक्षाओंमें स्थूल बुद्धिबलके द्वारा उत्तीर्ण होनेसे या तर्कजालमें फँसाकर सीधे-सादे भले आदमियोंको वादमें परास्त करनेसे यथार्थ सत्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। सत्यका अनुसन्धान जिस सूक्ष्म बुद्धिसे होता है, वह तर्कसे कदापि नहीं मिलती, उसकी प्राप्ति तो निर्मल हृदयकी सात्त्विकी श्रद्धा और भगवत्-शरणागतिसे ही होती है, क्योंकि वह ईश्वरीय बुद्धि ईश्वर-कृपासे ही मिलती है। भगवान्के द्वारा यह बुद्धि किसको मिलती है, सो भगवान्के ही शब्दोंमें सुनिये—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'जो लोग मुझमे ही अपना चित्त लगाये रखते हैं, मुझको ही अपना जीवन अर्पण कर देते हैं, नित्य परस्पर समझते और समझाते हुए मेरी ही चर्चा करते हैं, उसीमे सन्तुष्ट रहते हैं और मेरे ही प्रेममे रमते हैं, उन निरन्तर मुझमे लगे हुए प्रेमपूर्ण हृदयसे मुझे भजनेवाले भक्तोको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिसके बलसे वे मुझे अनायास ही प्राप्त होते हैं।'

हमलोगोको वास्तवमे इसी बुद्धियोगकी प्राप्ति करनी चाहिये। यही सर्वोच्च कला और सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है; क्योंकि इसके बिना हम यथार्थ सत्यको कभी उपलब्ध नहीं कर सकते। यथार्थ सत्यकी उपलब्धिके बिना परम सुख कदापि नहीं मिल सकता। संसारके कला-कौशल और जड-वैज्ञानिक आविष्कारोके विस्तारसे हम अपनी इहलौकिक सुख-समृद्धिकी कितनी ही वृद्धि क्यों न समझ लें, परन्तु मरणशील जीवनमे उस सुखका मूल्य ही क्या है? मृत्यु निश्चित है और मृत्युके साथ ही यहाँकी सारी सुख-समृद्धि तत्काल स्वप्नवत् विलीन हो जाती है। उस समय जो भयानक मर्मवेदना होती है, उस मृत्युयन्त्रणासे हमे यहाँका कोई भी कला-कौशल या विज्ञान कभी नहीं बचा सकता। एक महात्माने एक दृष्टान्त कहा था कि—

एक समय कई कलाओमे कुशल एक नवशिक्षित बाबू नावमें बैठकर नदी पार कर रहे थे। उन्होने सुनील आकाशकी ओर देखकर केवटसे कहा, 'भाई! तुम ज्योतिष पढे हो?' उसने कहा, 'नहीं, मैंने तो कभी नाम भी नहीं सुना।' बाबूने कहा, 'तब तो तुम्हारे जीवनका एक चौथाई भाग यों ही गया।' कुछ देर बाद

नदीतटके सुन्दर सुहावने हरे-भरे खेतों और वृक्षोंको देखकर प्रफुल्लित मनसे बाबूने फिर पूछा, 'क्यों भाई केवट! तुमने वनस्पति-विद्या पढ़ी या नहीं?' उसने कहा, 'नहीं!' बाबूने कहा, 'तब तो तुम्हारा आधा जीवन व्यर्थ गया!' कुछ समय पश्चात् नदीकी वेगवती धाराओंको देखकर बाबू फिर कहने लगे, 'अच्छा, तुम गणितशास्त्र तो पढे ही होगे?' केवटने कहा, 'बाबूजी! मैं तो कोई शास्त्र नहीं पढा, नदीमें नाव चलाकर अपना पेट भरता हूँ।' बाबूने उसे नितान्त मूर्ख समझकर घृणासे कहा, 'तुम मूर्खोंको इन विद्याओंका क्या पता? तुम्हारे जीवनके तीन भाग यों ही नष्ट हो चुके।' इस तरह बातचीत हो ही रही थी कि अकस्मात् तूफान आ गया, नदी-की तरङ्गें उछल-उछलकर आसमानसे बातें करने लगीं, नैया डगमगाने लगी, देखते-देखते नावमें पानी भर आया, केवट तुरत जलमें कूद पड़ा और तैरने लगा। बाबू घबडाये, इच्छा न होनेपर भी उनके मुखसे 'भगवान्! बचाओ' ये शब्द निकल ही गये। केवटने तैरते हुए पूछा, 'बाबूजी! क्या आप तैरना नहीं जानते?' बाबूने कहा, 'नहीं!' केवटने सहानुभूतिके साथ कहा, 'बाबू! तब तो गजब हो गया, आपका सारा ही जीवन नष्ट हुआ, भगवान्को याद कीजिये!'

सारांश यह कि सब विद्याओंमें निपुण होनेपर भी जैसे तैरना न जाननेसे मनुष्यको नदीगर्भमें डूबना पडता है वैसे ही संसारकी कोई भी कला या शिक्षा हमें इस दुःखसागरसे यथार्थमें कभी नहीं बचा सकती। अतएव उनका अभिमान करना व्यर्थ और मूर्खतामात्र है। जिस कलाके अभ्याससे हम इस अगाध भवसागरसे तरकर

पाप-ताप, शोक-सन्देह और रोग-मृत्युके प्रबल बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा सकते हैं, उसी कलाको सीखना मनुष्य-जीवनका ध्येय है और वह कला तर्कसे कभी मिल नहीं सकती। इसी कला-का नाम सात्त्विकी बुद्धि या श्रद्धा-भक्ति है। इसीसे मनुष्य सत्यके यथार्थ स्वरूपको या परमात्माके तत्त्वको भलीभाँति जानकर दुःखोंसे छूट सकता है।

केवल तर्क या कोरे बुद्धिबलसे परमात्माकी भक्तिमे मन नहीं लग सकता। वास्तवमे तर्ककी कसौटीपर कसी जानेलायक यह वस्तु भी नहीं है। पूज्यवर महात्मा गान्धीजीने 'कल्याण' मे श्रीराम-नामके प्रभावपर लिखते समय लिखा था कि 'नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती, श्रद्धासे अनुभवसाध्य है।' बात भी यही है। विचार करना चाहिये कि जब नाम-महिमा भी बुद्धि-के द्वारा अतर्क्य है, तब उस परमात्माको, जिसकी मायासे सारा जगत् कुछ-का-कुछ दीखता है, बुद्धि या तर्कके बलपर जान लेनेकी इच्छा करना या ऐसा सम्भव समझना केवल हास्यास्पद ही है। किसीके तर्कसे ईश्वरकी सिद्धि न होनेपर ईश्वरके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं आ सकती। विलास-विभ्रमरत, मोह-आवृत जीव चाहे जितना ही परमात्माका खण्डन किया करे, अपने बुद्धिबलका अभिमान कर कितना ही बकवाद किया करे, परमात्माकी सत्ता और स्थितिमें कभी कोई अन्तर नही आता,—अवश्य ही वह बुद्धिबलका अभिमानी माया-विलास-मोहित मनुष्य परम सत्यकी प्राप्तिसे बहुत दूर चला जाता है। परमात्माकी सिद्धि करने जाना तो एक प्रकार-

का पागलपन है। परन्तु पद-पदपर प्रत्यक्ष सिद्ध परमात्माको असिद्ध समझनेवाले मनुष्यको समझानेकी चेष्टा करनेसे भी कोई लाभ नहीं होता। ऐसे मनुष्यके सामने यदि परमात्मा स्वयं व्यक्तरूपसे भी प्रकट हो जायँ तो भी वह विश्वास नहीं करेगा। धृतराष्ट्रकी राजसभामें भगवान् श्रीकृष्णने जब आश्चर्यमय विराट्स्वरूप दिखलाकर सबको मन्त्रमुग्धकी भाँति चकित कर दिया था, तब भी दुर्योधनने असूयावश उनपर अविश्वास ही किया। इसके सिवा परमात्माको तार्किकोंके सामने प्रकट होकर उनसे अपनी सिद्धि करानेकी आवश्यकता भी नहीं है। जो श्रद्धापूर्वक सरल विश्वासके साथ परमात्माके भजनमें संलग्न रहता है, उसीको परमात्माकी कृपासे उनके तत्त्वका साक्षात्कार होता है—'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'

आजकलके तार्किक और अविश्वासी पुरुष भक्तराज प्रह्लाद, ध्रुव आदिसे लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी, सूरदासजी, मीरा आदि भक्तोंके भगवत्-साक्षात्कार होनेकी घटनाओंको कल्पित बतलाते हैं। उन लोगोंकी दृष्टिमें यह सब कवियोंकी अस्वाभाविक कल्पना या भक्तोंके अनुगामी पुरुषोंकी रचनामात्र है। उन लोगोंके लिये है भी ऐसी ही बात। ईश्वरकी सत्ता बड़े-बड़े सन्त-महात्माओंकी दीर्घकाल तपस्याके बलसे सर्वथा अनुभूत और सिद्ध है, पर ईश्वर अविश्वासी पुरुषोंके सम्मुख अपनी सिद्धिके लिये नहीं आते। इसलिये जो लोग उन्हें नहीं मानते, उनके लिये उनको प्राप्त करना भी असम्भव ही है। परन्तु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि ईश्वरके अविश्वासी लोग ईश्वरीय नियमोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। ईश्वरकी आज्ञासे

प्रकृति उन्हे कर्मोंका अच्छा-बुरा फल अवश्य भुगताती है, जो उन्हे हजार अनिच्छा होनेपर भी बाध्य होकर भोगना पड़ता है। हाँ, ईश्वरकी सत्ता न माननेसे ईश्वरका भय अवश्य ही जाता रहता है, जो मनुष्यको पापमे लगानेके लिये प्रधान हेतु होता है। जिनको ईश्वरके दण्डका भय नहीं होता, वे किसी प्रकारके पापकर्मसे भी नहीं हिचकते।

मनुष्य प्रधानतः पाँच भयके हेतुओंसे पापसे बचता है–(१) ईश्वरका भय, (२) धर्मका भय, (३) समाजका भय, (४) शासनका भय और (५) शरीरका भय। व्यभिचार करनेसे ईश्वर नाराज होंगे, धर्मका नाश होगा, समाजमे बदनामी होगी या समाज च्युत कर देगा, राजदण्ड मिलेगा और स्वास्थ्य नष्ट हो जायगा। इसीसे मनुष्य व्यभिचारसे बचता है। इन पाँचोंमेसे प्रथमोक्त दो हेतु सर्वप्रधान हैं, क्योंकि मानसिक घोर पापोंसे बचना इन्हींके कारणसे होता है। किसी कार्यके करनेमें जब मनुष्य यह समझता है कि मेरे इस कार्यको सर्वव्यापी अन्तर्यामी ईश्वर देखता है या इस कार्यसे मेरे धर्मका नाश हो जायगा, तो वह उससे अवश्य बचता है। परन्तु जब ये दोनों हेतु मनसे हट जाते हैं, तब उसे मानसिक पापके लिये तो कोई रुकावट रह ही नहीं जाती। शारीरिक या वाणीके पाप करनेमें भी, उपर्युक्त दोनो हेतुओके मिट जानेसे सहायता मिलती है। ईश्वर और धर्मका भय करनेवाला मनुष्य शासकोंके और समाजके सामने निर्दोष सिद्ध होनेपर भी मनमें अपनेको अपराधी ही मानता है। ऐसी बहुत घटनाएँ होती हैं, जिनका

यथार्थ स्वरूप राज्य या समाजके सामने नहीं आता, यदि राज्य या समाजको किसीपर सन्देह भी हो जाता है तो भी वह पूरे प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलनेके कारण दण्डका पात्र नहीं समझा जाता, इसीसे ईश्वर और धर्मसे न डरनेवाले पापात्मा मनुष्य अपनेको कानूनसे बचाकर या प्रमाणोंके आधारको नष्ट कर पापकर्म किया करते हैं। राज्य या समाजका भय उनके पापोंको पूर्णरूपसे रोकनेमें समर्थ नहीं होता। यही कारण है कि वर्तमान संसारमें—जहाँ अपराधोंको रोकनेके लिये नित्य नये-नये कानून बनाये जाते हैं—कानूनोंसे बचकर अपराध करनेकी प्रवृत्ति और अपराधोंकी संख्या भी बड़े वेगसे बढ़ती जा रही है। इसका प्रधान कारण यही है कि ईश्वर और धर्मका भय बहुत कुछ नष्ट हो गया, इसीसे हमारा जीवन उच्छृङ्खल, स्वेच्छाचारी और पातकमय बन गया है। कानूनोंके नये-नये विधानोंसे आज सिद्धहस्त अपराधी तो अपने कौशलसे बच जाते हैं और अपना पक्ष समर्थन करनेमें असमर्थ, निर्दोषता प्रमाणित करनेमें अशक्य, दाँव-पेचको न जाननेवाले सीधे-सादे निरपराध नर-नारी कष्ट भोगते हैं। जिससे आगे चलकर परिस्थितिकी परवशतासे उन्हें भी अपराध-प्रवृत्तिका शिकार होना पड़ता है। खेद है कि वर्तमान संसारकी गति इसी ओर हो रही है। ईश्वर और धर्मका भय न रहनेसे ही आज अपनेको आस्तिक और ईश्वरको माननेवाला प्रसिद्ध करनेवाले लोग भी मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्तिके सामने स्त्रियोंकी ओर बुरी दृष्टिसे देखकर पापवृत्तिका पोषण करते हैं। आचार्य, उपदेशक और धर्मनेताका स्वाँग धारणकर पाखण्डी लोग ईश्वरके नामपर लोगोंको ठगते हैं, देश या समाज-सेवकका

बाना धारणकर व्यक्तिगत लाभके लिये छिपकर देश या समाजके हितपर कुठार चलाते हैं। यह सारा व्यापार ईश्वर और धर्मका भय क्रमशः नष्ट होते रहनेसे विस्तारको प्राप्त हो रहा है। स्वास्थ्यके भयसे अलबत्ता कुछ लोग पापोसे बचते हैं। परन्तु प्रथम तो सभी पाप ऐसे नही होते, जिनमें स्वास्थ्यनाशका पूरा भय हो, दूसरे मनुष्य इस भयसे अपनेको किसी अशमे बचानेका प्रयास भी कर सकता है।

यह सच्ची बात है कि ईश्वर और धर्मके नामपर पाखण्ड बहुत बढ जाने तथा यथार्थ ईश्वरप्रेमी और धर्मात्माओकी संख्या घट जानेसे भी ईश्वरविहीन शुष्क बुद्धिवादकी उत्पत्ति और उसके विस्तारमे बड़ा सहारा मिला है,तथापि यह अवश्य मानना चाहिये कि इस बुद्धिवाद-से ससार यथार्थ सत्यको कभी नहीं पा सकता। इससे सच्चे मनुष्यो-के मनसे रहा-सहा श्रद्धाका भाव भी क्रमशः नष्ट होता जायगा, जिससे चारो ओर उच्छृङ्खलता और भी बढ़ जायगी।

यह भी सच्ची बात है कि केवल अन्धश्रद्धाके बलपर स्थित रहनेवाला धर्म सदा स्थायी नहीं होता, परन्तु यहाॅ वह बात नहीं है, भारतीय ऋषियोंका यह अनादि ईश्वरीय धर्म, जिसमे जगत्‌के समस्त धर्मोंका बड़े सहजमे समन्वय हो सकता है---वैसा खोखला या निराधार नहीं है। परमशुद्ध बुद्धिसे ही इस धर्मका परम तत्त्व पहचाननेमे आता है। परन्तु वह परम शुद्ध बुद्धि केवल तर्कसे नहीं मिल सकती। वह मिलती है दीर्घकालीन ईश्वरोपासनासे। यथार्थ ईश्वरोपासना श्रद्धाके अभावमे कभी सम्भव नहीं होती। शास्त्रोका अध्ययन न हो, शास्त्रज्ञान न हो, केवल सात्त्विकी श्रद्धासे ही ईश्वरकी पूजा हो सकती

है । इसीलिये ईश्वरकी भक्तिके वे सभी स्त्री-पुरुष अधिकारी माने गये हैं, जो जाति, वर्ण, विद्या, धन, बल, रूप, यश और पुण्य आदिमें नितान्त नीच होनेपर भी परम श्रद्धासे केवल परमात्माको ही अपना हृदय-सर्वस्व समझकर उसकी एकान्त भक्ति करते हों । इसीलिये प्रह्लादने कहा है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १०)

'बारह प्रकारके गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी भगवान् पद्मनाभके चरणकमलसे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसके मन, धन, वचन, कर्म और प्राण परमात्माको अर्पित हैं, क्योंकि वह भक्त चाण्डाल अपनी भक्तिके प्रतापसे अपने सारे कुलको पवित्र कर सकता है, परन्तु वह बहुत मानवाला भक्तिहीन ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता ।'

जो ऊँची श्रद्धासे भगवान्‌को भजता है, उसीको भगवान् मिलते हैं—भगवद्वाक्योंसे भी यही प्रमाणित होता है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

(गीता १२ । २)

'जो भक्तजन मुझ (भगवान्) में मनको एकाग्र करके नित्य भजनमें लगे रहकर परम श्रद्धाके साथ मुझे भजते हैं, मैं उन्हे सर्वोत्तम

योगी मानता हूँ। भक्तियोगके इसी अध्यायका अन्तिम मन्त्र है। भगवान् कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'जो श्रद्धासम्पन्न पुरुष मुझ (भगवान्) मे परायण होकर इस उपर्युक्त धर्म्यामृतका भलीभाँति सेवन करते हैं अर्थात् भक्तिके बतलाये हुए लक्षणोद्वारा श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि श्रद्धाके बिना उपासना नहीं होती, उपासना बिना भगवत्-कृपाका अनुभव नहीं होता, भगवत्कृपा बिना यथार्थ सत्य या परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और परमात्माकी प्राप्ति बिना दुःखोसे सदाके लिये छुटकारा नहीं मिलता।

अतएव हम सबको चाहिये कि तर्क-जालसे सर्वथा बचकर भक्तिशास्त्रके अनुसार आचरणोसे श्रद्धा अर्जन करें और उस श्रद्धाको बढाते हुए परमोच्च श्रद्धाके रूपमे परिणत कर उसके द्वारा परमात्माकी सच्ची उपासना करें जिससे हमलोगोंको मनुष्य-जीवनके परम ध्येय परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति हो।

जीवन बहुत थोड़ा हैं, गया हुआ समय फिर नहीं आता, अत· शीघ्र सावधान होना चाहिये।



भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है

यह प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ रहा है कि जितनी-जितनी वर्तमान भोग-सुख-लिप्सा-पूर्ण सभ्यताकी वृद्धि हो रही है, सुधार या उन्नतिके नामपर जातियाँ जितनी-जितनी इस माया-मोहिनी सभ्यताकी ओर अग्रसर हो रही हैं, उतना-उतना ही छल-कपट, दु:ख, दम्भ और द्रोह अधिक बढ रहा है। अशान्तिकी प्रज्वलित अग्निमें घृताहुतियाँ पड रही है। रक्तपानकी हिंस्र लालसा बढ़ रही है। आजका जगत् मानो भस्म होनेके लिये पतङ्गकी भाँति मोहवश अग्निशिखाकी ओर प्रबल वेगसे दौड़ रहा है। इसीसे आज मानव-रक्तसे अपनी सुख-पिपासा शान्त करने, मानवीय अस्थिचूर्णसे धरणीके पवित्र क्षेत्रको उपजाऊ बनाने और भाँति-भाँतिके वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सहायतासे

गरीब पड़ोसियोंके सर्वस्व-विनाशमें आत्म-गौरव समझनेकी घृणित धारणा बद्धमूल होती जा रही है। जबतक इसका यथार्थ प्रतीकार नहीं होगा तबतक बडे-बड़े शान्तिकामी राष्ट्रविधायकोंके प्रयत्नोंसे कोई भी सुफल होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। ऊपरसे शस्त्र-संन्यास, शान्तिस्थापन और विश्वप्रेमकी बाते होती रहेंगी तथा अंदर-ही-अदर परस्वापहरण-लोलुपता और पर-सुख-कातरताके कारण विद्वेषाग्नि भस्माच्छादित अग्निकी तरह सुलगती रहेगी जो अवसर पाते ही ज्वालामुखीकी तरह फटकर सारे विश्वके सुखनाशका प्रधान कारण बन जायगी!

विश्वप्रेम जबानकी चीज नहीं है, इसमे बड़ा भारी त्याग चाहिये। त्याग ही प्रेमका बीज है। त्यागकी सुधाधाराके सिञ्चनसे ही प्रेमवेलि अङ्कुरित और पल्लवित होती है। जबतक हमारा हृदय तुच्छ स्वार्थोंसे भरा है तबतक प्रेमकी बातें करना हास्यास्पद व्यापारके सिवा और कुछ भी नहीं है। ममताके हेतुसे त्याग होता है, माताकी अपने बच्चेमें ममता है इसलिये वह उसको सुखी बनानेके हेतु अपने सुखका त्याग कर देती है और उसीमें अपनेको सुखी समझती है। जिसकी जिसमे जितनी अधिक ममता होती है, उतना ही उसमे अधिक राग होता है, जिसमें अधिक राग होता है, उसीमे मुख्यबुद्धि रहती है। मुख्यबुद्धिके सामने दूसरी सब वस्तुएँ गौण हो जाती हैं।

इसी मुख्यबुद्धिका दूसरा नाम अनन्यानुराग है। जिसकी मुख्य-वृत्ति स्त्रीमें होती है वह स्त्रीके लिये अन्य समस्त विषयोंका त्याग कर सकता है—सारे विषय उस स्त्रीके चरणोंमें सुखपूर्वक अर्पण कर

सकता है। पतिव्रता स्त्री पतिमे मुख्यबुद्धि रहनेके कारण ही अपना सर्वस्व पतिके चरणोंमे समर्पण कर उसके सुखमे ही अपनेको सुखी मानती है। इसी प्रकार माता, पिता, पुत्र, स्वामी, गुरु, सेवक, कीर्ति, परोपकार, सेवा आदि जिस वस्तुमें जिसकी मुख्यबुद्धि होती है, उसीके लिये वह दूसरी सब वस्तुओंका, जो दूसरोंकी दृष्टिमें बडी प्रिय हैं, अनायास त्याग कर देता है।

हरिश्चन्द्रने सत्यके लिये राज्य त्याग दिया, कर्णने दानके लिये कवच-कुण्डल देकर मृत्युको आलिङ्गन करनेमे भी आनाकानी नहीं की, प्रह्लादने रामनामके लिये हँसते हुए अग्निप्रवेश किया। भरतने भ्रातृ-प्रेमके लिये राज्य त्याग कर माताकी आज्ञा नहीं मानी, युधिष्ठिरने भक्त कुत्तेके लिये स्वर्ग जाना अस्वीकार किया, शिविने कबूतरके लिये अपना मास दे डाला, रन्तिदेवने गरीबोंके लिये भूखों मरना स्वीकार किया, दधीचिने परोपकारके लिये अपनी हड्डियॉ दे दीं, परशुरामने पिताके लिये माताका वध कर डाला, भीष्मने पिताके लिये कामिनी-काञ्चनका त्याग कर दिया। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। साराश यह कि जिस विषयमे मनुष्यकी मुख्यबुद्धि होती है उसके लिये वह अन्य सब पदार्थोंका त्याग सुखपूर्वक कर सकता है। उस एककी रक्षाके लिये वह उन सबके नाशमें भी अपनी कोई हानि नहीं समझता, वर आवश्यकता पड़नेपर उस एकके लिये स्वय सबका प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है।

भक्त इसीलिये भगवान्‌को अधिक प्यारा होता है कि वह अपनी ममता सब जगहसे हटाकर केवल भगवान्‌मे कर लेता है, इसीसे उसका

अनन्यानुराग और मुख्यबुद्धि भी भगवान्मे ही हो जाती है। वह भगवान्के लिये सब कुछ त्याग देता है। तुलसीदासजीने इस सम्बन्धमे भगवान् श्रीरामके शब्द इस प्रकार गाये है—

जननी जनक वंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

देवर्षि नारद भी भक्तिका लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।
(नारदभक्तिसूत्र १९)

'अपना सर्वस्व उसके चरणोमे अर्पण करके निरन्तर उसे स्मरण करता रहे, कदाचित् किसी कारणसे स्मरणमे भूल हो जाय, उस समय हृदयमे ऐसी व्याकुलता हो जैसे मछलीको जलसे निकालनेपर होती है।' यही भक्ति है जिसमे मुख्यवृत्ति रहती है, उसका निरन्तर चिन्तन होना और चिन्तनकी विस्मृतिमे व्याकुलताका होना अनिवार्य है। ऐसे भक्तोको भगवान् अपने हृदयमें कैसे रखते हैं जैसे लोभी धनको रखता है; क्योंकि उसकी मुख्यवृत्ति धनमे ही रहती है। इस प्रकारके भक्तका भगवान् कभी त्याग नहीं करते। भगवान्के वचन हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६५)

'जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, परिवार, प्राण, धन, लोक और परलोक सबको त्यागकर मेरा आश्रय ले लेते हैं, उनको भला मैं कैसे त्याग सकता हूँ?'

जिसने इतना त्याग किया हो, उसका अत्यन्त प्रिय लगना स्वाभाविक ही है। भक्तोंका भगवान्पर अनन्य ममत्व है, इसीलिये तो भक्तोंपर भगवान्की ममता भी अधिक है। भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६८)

'वे साधु मेरा हृदय हैं, मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते तो मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।' यह भगवान्में मुख्यबुद्धि होनेका ही परिणाम है।

एक सम्मिलित कुटुम्बका तभीतक प्रेमपूर्वक निर्वाह हो सकता है जबतक सबमें परस्पर ममता (मेरापन) बनी रहे। जहाँ 'पर' (पराया) भाव आया वहीं कलह आरम्भ हो जाता है। एक कुटुम्बमें कुल मिलाकर दस मनुष्य हैं। जिनमें कमानेवाले दो भाई हैं। वे दोनों जबतक यह समझते हैं कि घरके सब लोग हमारे अपने हैं, तबतक रात-दिन कठिन परिश्रम करके भी उन सबका भरण-पोषण करनेमें उन्हें सुख मिलता है। पर जब किसी कारणसे एकके मनमें यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि मैं अपने स्त्री-पुत्रोंके सिवा दूसरे लोगोंके लिये क्यों इतने बखेड़ेमें पड़ूँ! तब फिर एक दिनके लिये भी उनका भरण-पोषण करना उसके लिये भारी और दुःखद होने लगता है। कारण यही कि उसका ममत्व उन सबमेंसे निकलकर केवल स्त्री-पुत्रोंमें ही रह जाता है। ममताके साथ ही राग और मुख्य बुद्धि भी चली जाती है। ऐसी अवस्थामें यदि माता-पिता जीवित होते हैं तो उन बेचारोंपर बड़ी विपत्ति आ पड़ती है।

एक मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर देशकी सेवा क्यों करता है ? इसीलिये कि देशमे उसका ममत्व है, देशके हानि-लाभमे वह सचमुच अपना हानि-लाभ समझता है। इसीका नाम देशात्मबोध है और यही यथार्थ देशभक्ति है। एक दूसरे मनुष्यको देशजातिका नाम भी नहीं सुहाता, वह अपने परिवारपालनमे ही मस्त है। उसे देशकी कुछ भी परवा नही, यह इसीलिये कि देशमे उसकी ममता नही है।

ममता ही आगे चलकर 'मेरा-मेरा' करते-करते 'अहता' मे परिणत हो जाती है। अन्तकालसे इस नश्वर शरीरको हम मेरा-मेरा करते आये हैं, इसलिये इसमे 'मै' बुद्धि हो गयी है। शरीरमें रोग होता है, हम कहते है, 'मैं बीमार हूँ' जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि रूपान्तर आदि शरीरके होते हैं। 'मै' (आत्मा) जो सदा निर्विकार, शुद्ध, एकरस है, वह ज्यों-का-त्यो रहता है। वह पहले लड़कपन और खेल-कूदका द्रष्टा था, फिर युवावस्था और काम-मदादिका द्रष्टा हुआ, अब वही वृद्धावस्था और इन्द्रियोकी शिथिलताका द्रष्टा है, तीनों अवस्थाओं-मे वह नित्य एकरूप है; परन्तु भ्रमवश शरीरमें अहंभाव हो जानेके कारण कहता है, 'पहले बालक था तब तो मैंने सारी उम्र खेल-कूदमें खो दी, जवानीमे काम-मदमे समय बिता दिया, अब मैं बूढ़ा हो गया, कमजोर हो गया, भजन कैसे करूँ ? मैं तो व्यर्थ ही मर जाऊँगा।' अजन्मा और अविनाशी होनेपर भी वह इस प्रकार क्यों समझता है ? इसीलिये कि उसने शरीरको 'मैं' (आत्मा) समझ लिया है। इसीका नाम 'देहात्मबोध' है। यही मायाका बन्धन है। एक बालक दर्पणमें मुख देख रहा था, दर्पण था लाल, उसे अपना शरीर भी लाल दिखायी

दिया, 'मेरा शरीर लाल हो गया' 'मेरा शरीर लाल हो गया' 'मैं लाल हो गया' इस प्रकार कहते-कहते वह अपने मूल सत्य स्वरूपको भूलकर दर्पणकी उपाधिसे दीखनेवाले प्रतिबिम्बको अपना रूप मानकर दर्पण-के विकार ललाईका अपनेमें आरोपकर व्यर्थ ही अपनेको लाल मानकर दुखी हो गया। यही अनात्मवादियोंका 'देहात्मबोध' है।

देहात्मबोध जब जोर पकडता है तभी भेदको ठहरनेके लिये जगह मिल जाती है। एक ही परमात्मा अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ-सा जान पडता है। मैं अमुक हूँ, दूसरा अमुक है, मुझे सुख मिलना चाहिये मुझे सुखी होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस अवस्थामे मनुष्य कभी-कभी तो सोचता है कि 'सभी मेरे सरीखे ही मनुष्य है। उनको भी सुख मिले, मुझको भी मिले।' कभी-कभी वह स्वय दु.ख सहन करके भी दूसरोंको सुख पहुँचाता है, परन्तु भेद-बुद्धिकी जड जमने और भोग-सुख-स्पृहा बढनेके साथ ही उसका प्रेम सङ्कुचित होने लगता है। तब वह सोचता है, 'दूसरेको सुख मिले तो अच्छी बात है, परन्तु उसके लिये मैं दु ख क्यों भोगूँ ? मै अपने प्राप्त सुखका परित्याग क्यों करूँ ?' फिर सोचता है, 'मुझे सुख मिलना चाहिये, दूसरोंको मिले या न मिले इससे मुझको क्या ?' फिर सोचता है, 'मेरे सुखमे यदि दूसरोंका सुख बाधक है तो उसका नाश क्यों न कर दिया जाय ?' इस स्थितिमें वह अपने सुखके लिये दूसरोंके सुखका नाश करने लगता है। फिर सोचता है, 'बस, मुझे सुख मिले, दूसरे चाहे दु खसागरमें डूब जायँ।' इस अवस्थामें उसकी बुद्धि सर्वथा तमसाच्छन्न हो जाती है, उसके मनसे दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति आदि गुण

लुप्त हो जाते हैं और वह अपनेको सुखी बनानेके लिये क्रूरताके साथ दूसरोको दुःख पहुँचाने लगता है । अन्तमें उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह दूसरोंके दुःखमे ही अपनेको सुखी मानता है, दूसरोंकी विपत्तिके आँसुओको देखकर ही उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, यहाँतक कि वह अपनी हानि करके भी दूसरोंको दुखी करता है। ऐसा मनुष्य राक्षससे भी अधम बताया गया है । कहना नहीं होगा कि दूसरोंके साथ-ही-साथ उसके भी दुःखोंकी मात्रा बढती ही जाती है ।

एक मनुष्यने भगवान् शिवकी आराधना की, शिवजी प्रसन्न हुए, उसका पड़ोसी भी बड़े भक्तिभावसे शिवजीके लिये तप कर रहा था । शिवजीने दोनोंके भक्तिका विचार कर आकाशवाणीमें उससे कहा कि 'मै तुझपर प्रसन्न हूँ, इच्छित वर माँग, पर तुझे जो मिलेगा उससे दूना तेरे पडोसीको मिलेगा, क्योंकि उसके तपका महत्त्व तेरे तपसे दूना है ।' यह सुनते ही वह बड़ा दुखी हो गया । उसने सोचा 'क्या माँगूँ ? पुत्र, धन और कीर्तिकी बड़ी इच्छा थी; परन्तु अब यह सब कैसे माँगूँ ? जो एक पुत्र माँगता हूँ तो उसके दो होते हैं, लाख रुपये माँगता हूँ तो उस नालायकको दो लाख मिलते हैं, कीर्ति चाहता हूँ तो उसकी मुझसे दूनी होती है ।' अन्तमें उसने खूब सोच-विचारकर शिवजीसे कहा, 'प्रभो ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी एक आँख फोड़ डालिये ।' उसने सोचा, 'मेरा तो काम एक आँखसे भी चल जायगा, परन्तु वह तो दोनो फूटनेसे बिल्कुल निकम्मा हो जायगा । इससे अधिक सुखकी बात मेरे लिये और क्या होगी ?' मित्रो ! इस दृष्टान्तको पढ़कर हँसियेगा नहीं, हमे चाहिये कि हम अपने हृदयको

टटोलें। क्या कभी उसमें इस प्रकारके भाव नहीं पैदा होते ? 'चाहे पचास हजार रुपये मेरे लग जायँ पर तुझको तो नीचा दिखाकर छोड़ूँगा,' 'मेरा चाहे जितना नुकसान हो जाय पर उसको तो सुखसे नहीं रहने दूँगा,' 'इस मामलेमे चाहे मेरा घर तबाह हो जाय लेकिन उसको तो भिखमगा बनाकर छोड़ूँगा।' इस प्रकारके विचार और उद्गार हमलोगोंके हृदयमे ही तो पैदा होते और निकलते हैं। इसका कारण यही है कि हमलोगोंने देहात्मबोधके कारण अपनी ममताकी सीमा बहुत ही सङ्कुचित कर ली है, छोटे गडहेका पानी गँदला हुआ ही करता है। इसी प्रकार सङ्कुचित ममता भी बडी गदी हो जाती है। हमारे प्रेमका संकोच हो गया है, तभी यह दशा है। इसीमे आज लौकिक और पारलौकिक सभी क्षेत्रोंमे हमारा पतन हो रहा है।

इसके विपरीत भगवत्कृपासे ज्यों-ज्यों ममताका क्षेत्र बढता है त्यों-ही-त्यों उसमे पवित्रता और सात्त्विकता आती है, हृदय विशाल होने लगता है, प्रेमका विकास होता है। इस अवस्थामे स्वार्थकी सीमा बढने लगती है, वह व्यक्तिसे कुटुम्बमे, कुटुम्बसे जातिमे, जातिसे देशमें और फिर सारे विश्वमे फैल जाता है। तभी मनुष्य वास्तविक उदार होता है, *'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'* से ऐसे ही महानुभावोंका निर्देश किया गया है। उपर्युक्त भावोंमे जो जितना-जितना अग्रसर होता है उतना-उतना ही उसके प्रेमका विस्तार और सीमाबद्ध स्वार्थका नाश हो जाता है। फिर वह भगवान् बुद्धकी भाँति प्राणीमात्रका दुःख दूर करनेके लिये अपना जीवन अर्पण कर देता है। उस अवस्थामे उसे जिस सुखका अनुभव होता है, उसे वही जानता है।

जब समस्त विश्वमे मेरापन छा जाता है तब उसका प्रेम भी विश्वव्यापी हो जाता है। फिर उसके द्वारा किसी भी हालतमें किसीकी बुराई नहीं हो सकती। अमृतसे किसीकी मृत्यु चाहे सम्भव हो पर उसके द्वारा किसीका बुरा होना सम्भव नहीं! वह विश्वके हितमे ही अपना हित समझता है, सारे विश्वका स्वार्थ ही उसका स्वार्थ बन जाता है। यही ममताका व्यापक और विशाल रूप है और यही वाञ्छनीय है। यथार्थ विश्वप्रेम इसीसे सम्भव है।

यही ममता जब मेरा-मेरा करते-करते शुद्ध 'मैं' बन जाती है तब सारा विश्व ही उसका अपना स्वरूप बन जाता है, विश्वकी व्यापक सत्तामे उसकी भिन्न सत्ता सर्वथा मिल जाती है। तब केवल एक 'मैं' ही रह जाता है। यही सच्चा 'मैं' है। इस 'मैं' की उपलब्धि कर लेनेपर कौन किससे वैर करे, अपने आपसे कोई वैर नहीं करता है, अपने आपको कोई नहीं मारता!

यह विश्वव्यापक 'मैं' ही परमात्माका स्वरूप है, इस व्यापक रूपका नाम ही विष्णु है, इसीको विश्व कहते हैं। हमारे विष्णुसहस्र-नाममे भगवान्को 'विश्व' नामसे ही बतलाया गया है। इन्हींका नाम श्रीकृष्ण है, जो व्रजमण्डलमे अपनी प्रेम-माधुरीका विस्तार कर मधुर वंशी-ध्वनिसे विश्वको निरन्तर प्रेमका मोहन सुर सुना रहे हैं। ममता, आसक्ति या स्वार्थ, जो संसारके पदार्थोंमे रहनेपर बन्धन-का कारण होते हैं, वही जब श्रीकृष्णके प्रति हो जाते हैं तब सारे बन्धनोंकी गॉठें आप-से-आप खुल जाती हैं। इसीसे भक्त कहते है कि 'भगवन्! हमारी आसक्तिका नाश न करो परन्तु उसको जगत्-

से हटाकर अपनी ओर खींच लो ।' इस अवस्थामें भक्तको समस्त संसार वासुदेवमय दिखायी पड़ता है, तब वह मस्त होकर प्रेममें झूमता हुआ मुरलीके मोहन सुरमें सुर मिलाकर मीठे स्वरसे गाता है—

अब हौं कासों बैर करौं ।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखतें घट-घट हौं बिहरौं ॥

इसलिये यदि हम सुख-शान्ति चाहते हैं तो हमें सबसे पहले उसका असली उपाय ढूँढ़ना चाहिये, हमें उस स्थानका पता लगाना चाहिये जहाँ सुख-शान्तिके स्रोतका उद्गम है । यदि हम प्रमादसे उसे भुलाकर—उसका सर्वथा तिरस्कार कर—मृगमरीचिकाके जलसे अपनी सुख-तृष्णा शान्त करना चाहेंगे तो वह कभी नहीं होगी ।

जो सारे संसारमें व्याप्त है, जो सबमें ओतप्रोत है, जो सबका सृष्टिकर्ता और नियामक है, उसे हृदयसे निकालकर कृत्रिम उपायोंसे सुख-शान्तिकी स्थापना कभी नहीं हो सकती । यदि सुख-शान्ति और विश्वप्रेमकी आकांक्षा है तो हमें इस सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करना चाहिये कि 'समस्त जगत् परमात्माका रूप है, हम उसीके अंश हैं अतएव सब एक हैं, एक ही जगहसे हमारी उत्पत्ति हुई है, एक ही जगह जा रहे हैं और इस समय भी उस एकहीमें स्थित हैं, पराया कोई नहीं है, सब अपने हैं, सब आत्मरूप हैं, सब अभिन्न हैं । जो मेरा आत्मा है वही जगदात्मा है, जो परमात्मा तुममें है वही मुझमें है और वही अखिल विश्व-चराचरमें है ।' जब लोग इस बातको समझेंगे तभी वास्तविक विश्वप्रेम और शान्तिकी स्थापना होगी । जबतक हमारे हृदयमें तुच्छ स्वार्थ भरा है, जबतक

हम एक दूसरेको अलग समझते हैं, जबतक सबके साथ आत्माका एक संयोग नहीं मानते, तबतक वास्तविक प्रेम और शान्ति असम्भव है। अल्प तामस ज्ञानसे कभी सुख नहीं मिल सकता '*नाल्पे सुखमस्ति*।' सुखका उपाय सात्त्विक ज्ञान है। सात्त्विक ज्ञानका रूप है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(गीता १८।२०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य भिन्न-भिन्न समस्त प्राणियोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समानभावसे एकरस स्थित देखता है, उसी ज्ञानका नाम सात्त्विक ज्ञान है।'

इस ज्ञानकी उपलब्धि करना ही 'विश्वप्रेम' को प्राप्त करनेकी यथार्थ साधना है।

अतएव कृत्रिम बाह्य साधनोंका भरोसा छोड़कर इसीके लिये सबको प्रयत्नशील होना चाहिये। जब यह ज्ञान प्राप्त होगा, तब हृदयमें ईश्वरकी विमल छटा दिखायी देगी, फिर सारे जगत्में— अखिल विश्वमें उसी छटाका विस्तार दीख पड़ेगा। तब भक्ति-प्रणत चित्तसे विश्वरूप भगवान्‌के सामने हमारा मस्तक आप-से-आप झुक जायगा। सुख-शान्तिकी बद सरिताका बाँध टूट जायगा। प्रेम-मन्दाकिनीकी त्रिधारा वेगसे बहकर स्वर्ग, भूमि और पाताल तीनों-को प्रेमके मधुर सुखद प्रवाहमें बहा देगी। फिर सब तरफ देखेंगे केवल प्रेम, आनन्द और शान्ति। यही भगवत्-प्रेम है और इसीका नाम 'विश्वप्रेम' है।



भगवद्दर्शन

एक गुजराती सज्जन निम्नलिखित प्रश्नोंका उत्तर बड़ी उत्कण्ठाके साथ चाहते हैं। नाम प्रकाश न करनेके लिये उन्होंने लिख दिया है, इसलिये उनका नाम प्रकाशित नहीं किया गया है, प्रश्नोंके भावोंकी रक्षा करते हुए कुछ शब्द बदले गये हैं।

१—कई महात्मा पुरुष कहते हैं कि इस समय ईश्वरका दर्शन नहीं हो सकता। क्या यह बात माननेयोग्य है? यदि थोड़ी देरके लिये मान लें तो फिर भक्त तुलसीदास और नरसी मेहता आदिको इस कलियुगमें उस श्यामसुन्दरकी मनमोहिनी मूर्तिका दर्शन हुआ था, यह बात क्या असत्य है?

'अपने समस्त कर्म भगवान्‌को अर्पण कर देना और उन्हें भूलते ही परम व्याकुल होना भक्ति है ।' जबतक जगत्‌के भोगोंकी इच्छा है, जबतक जगत्‌के अनित्य पदार्थ सुन्दर, सुखरूप और तृप्तिकर मालूम होते हैं और जबतक उनमे रस आता है, तबतक हमारे हृदयका पूरा स्थान भगवान्‌के लिये खाली नही । गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

जो मोहि राम लागते मीठे ।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ॥

यदि मुझे भगवान् राम प्यारे लगते तो श्रृङ्गारादि नवों रस और अम्ल आदि छओ रस नीरस होकर सीठे (सारहीन—फीके) हो जाते । हम अपने अन्तरमे भगवान्‌को जितना-सा स्थान देते है उतना-सा उसका फल भी हमे प्राप्त होता है, परन्तु जबतक हम अपने हृदयका पूरा आसन उस हृदयेश्वरके लिये सजाकर तैयार नहीं करते, जबतक हमारे अन्तःकरणमे अनवरत और निरन्तर अटूट तैलधारा-की भाँति भगवद्भावका स्रोत नहीं बहता तबतक उसके लिये व्याकुलता नहीं हो सकती और जबतक हम व्याकुल नहीं होते तबतक भगवान् भी हमारे लिये व्याकुल नहीं होते, क्योकि भगवान्‌की यह एक शर्त है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(गीता ४ । ११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ ।' जब भक्त प्रेममें तन्मय होकर मतवालेकी तरह घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, लोक-परलोक, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सबका विसर्जन कर

उस परमात्माके लिये परम व्याकुल होता है, एक क्षणभरके विछोह-से भी जो जलसे अलग की हुई मछलीके समान छटपटाने लगता है, भक्तिमती गोपियोंकी भाँति जिसके प्राण विरह-वेदनासे व्याकुल हो उठते हैं, उसको भगवान्‌के दर्शन अत्यन्त शीघ्र हो सकते हैं, परन्तु हमलोगोंमें वैसी अनन्य व्याकुलता प्रायः नहीं है। इसीलिये दर्शनमें भी विलम्ब हो रहा है। हमलोग धन-सन्तान और मान-कीर्तिके लिये जितना जी-तोड़ परिश्रम और सच्चे मनसे प्रयत्न करते हैं, जितना छटपटाते हैं, उतना परमात्माके लिये क्या अपने जीवनभरमें कभी किसी दिन भी हमने प्रयत्न किया है या हम छटपटाते हैं? तुच्छ धन-मानके लिये भटकते और रोते फिरते हैं। क्या परमात्माके लिये व्याकुल होकर सच्चे मनसे हमने कभी एक भी आँसू गिराया है? इस अवस्थामें हम कैसे कह सकते हैं कि परमात्माके दर्शन नहीं होते। हमारे मनमें परमात्माके दर्शनकी लालसा ही कहाँ है? हमने तो अपना सारा मन अनित्य सांसारिक विषयोंके कूड़े-कर्कटसे भर रक्खा है। जोरकी भूख या प्यास लगनेपर क्या कभी कोई स्थिर रह सकता है? परन्तु हमारी भोग-लिप्सा और भगवान्‌के प्रति उदासीनता इस बातको सिद्ध करती है कि हमलोगोंको भगवान्‌के लिये जोरकी भूख या प्यास नहीं लगी। जिस दिन वह भूख लगेगी उस दिन भगवान्‌-को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु हमें नहीं सुहावेगी। उस दिन हमारा चित्त सब ओरसे हटकर केवल उसीके चिन्तनमें तल्लीन हो जायगा। जिस प्रकार विशाल साम्राज्यके प्राप्त हो जानेपर साधारण कौड़ियोंके तुच्छ व्यापारसे स्वाभाविक ही मन हट जाता है, उसी प्रकार जगत्‌-

२—जैसे आप मेरे सामने बैठे हों और मै आपसे बातें कर रहा हूँ। क्या प्यारे कृष्णचन्द्रका इस प्रकार दर्शन होना सम्भव है? यदि सम्भव है तो हमे क्या करना चाहिये कि जिससे हम उस मोहिनी मूर्तिको शीघ्र देख सकें?

३—जहाँतक ये चर्म-चक्षु उस प्यारेको तृप्त होनेतक नहीं देख सकेंगे वहाँतक ये किसी कामके नही हैं। नेत्रोंको सार्थक करनेका 'सिद्ध-मार्ग' कौन-सा है? सो बतलाइये।

४—कृष्णदर्शनकी तीव्रतम विरहाग्नि हृदयमे जल रही है, न मालूम वह बाहर क्यो नहीं निकलती! इसीसे मैं और भी घबडा रहा हूँ।

इन प्रश्नोंके साथ उक्त सज्जनने और भी बहुत-सी बातें लिखी है, जिनसे विदित होता है कि उनके हृदयमे भगवद्दर्शनकी अभिलाषा जाग्रत् हुई है। इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर तो उन पूज्य महापुरुष-से मिलना सम्भव है जो उस श्यामसुन्दरकी मनोहर और दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन कर धन्य हो चुके है। परन्तु महापुरुषोंकी अनुभवयुक्त वाणीसे जो कुछ सुननेमें आया है, उसीके आधारपर इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी कुछ चेष्टा की जाती है। प्रश्नकर्ता सज्जनने ये प्रश्न करके मुझको जो भगवत्-चर्चाका शुभ अवसर प्रदान किया है इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ! चारों प्रश्नोंका उत्तर पृथक्-पृथक् न लिखकर एक ही साथ लिखा जाता है।

मेरा दृढ विश्वास है कि इस युगमें भगवान्के दर्शन अवश्य हो सकते हैं, वल्कि अन्यान्य युगोंकी अपेक्षा थोडे समयमें और थोड़े

प्रयाससे ही हो सकते हैं। भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी और नरसी मेहता आदि प्रेमियोंको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं, इस बातको मैं सर्वथा सत्य मानता हूँ। यदि भक्त चाहे तो वह दो मित्रोंकी भाँति एक स्थानपर मिलकर भगवान्‌से परस्पर वार्तालाप कर सकता है। अवश्य ही भक्तमें वैसी योग्यता होनी चाहिये। भक्तोंके ऐसे अनेक पुनीत चरित इस बातके प्रमाण हैं। भगवान्‌के शीघ्र दर्शनका सबसे उत्तम उपाय दर्शनकी तीव्र और उत्कट अभिलाषा ही है। जिस प्रकार जलमें डूबता हुआ मनुष्य ऊपर आनेके लिये परम व्याकुल होता है उसी प्रकारकी परम व्याकुलता यदि भगवद्दर्शनके लिये हो तो भगवान्‌के दर्शन होना कोई बड़ी बात नहीं। व्याकुलता बनावटी न होकर असली होनी चाहिये। किसीका इकलौता पुत्र मर रहा हो या किसीकी सैकड़ों वर्षोंसे बनी हुई इज्जत जाती हो उस समय मनमें जैसी स्वाभाविक और निष्कपट व्याकुलता होती है वैसी ही व्याकुलता परमात्माके दर्शनके लिये जिस परम भाग्यवान् भक्तके अन्तरमें उत्पन्न होती है, उसको दर्शन दिये बिना भगवान् कभी नहीं रह सकते। ऐसी व्याकुलता तभी होती है, जब कि वह भक्त संसारके समस्त पदार्थोंसे परमात्माको बड़ा समझता है, इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंको अत्यन्त तुच्छ और नगण्य समझकर केवल एक परम प्यारे श्यामसुन्दरके लिये अपने जीवन, धन, ऐश्वर्य, मान, लोकलज्जा, लोकधर्म और वेदधर्म सबको समर्पण कर चुकता है। देवर्षि नारदजीने भक्तिका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारदभक्तिसूत्र १९)

'अपने समस्त कर्म भगवान्‌को अर्पण कर देना और उन्हें भूलते ही परम व्याकुल होना भक्ति है।' जबतक जगत्‌के भोगोंकी इच्छा है, जबतक जगत्‌के अनित्य पदार्थ सुन्दर, सुखरूप और तृप्तिकर मालूम होते हैं और जबतक उनमे रस आता है, तबतक हमारे हृदयका पूरा स्थान भगवान्‌के लिये खाली नहीं। गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

यदि मुझे भगवान् राम प्यारे लगते तो शृङ्गारादि नवों रस और अम्ल आदि छओं रस नीरस होकर सीठे (सारहीन–फीके) हो जाते। हम अपने अन्तरमें भगवान्‌को जितना-सा स्थान देते है उतना-सा उसका फल भी हमे प्राप्त होता है, परन्तु जबतक हम अपने हृदयका पूरा आसन उस हृदयेश्वरके लिये सजाकर तैयार नहीं करते, जबतक हमारे अन्तःकरणमे अनवरत और निरन्तर अटूट तैलधाराकी भाँति भगवद्भावका स्रोत नहीं बहता तबतक उसके लिये व्याकुलता नहीं हो सकती और जबतक हम व्याकुल नहीं होते तबतक भगवान् भी हमारे लिये व्याकुल नही होते; क्योंकि भगवान्‌की यह एक शर्त है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११)

'जो मुझको जैसे भजते है मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' जब भक्त प्रेममें तन्मय होकर मतवालेकी तरह घर-बार, स्त्री-पुत्र, लोक-परलोक, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सबका विसर्जन कर

उस परमात्माके लिये परम व्याकुल होता है, एक क्षणभरके विछोह-से भी जो जलसे अलग की हुई मछलीके समान छटपटाने लगता है, भक्तिमती गोपियोंकी भाँति जिसके प्राण विरह-वेदनामे व्याकुल हो उठते हैं, उसको भगवान्‌के दर्शन अत्यन्त शीघ्र हो सकते है, परन्तु हमलोगोंमे वैसी अनन्य व्याकुलता प्राय नहीं है । इसीलिये दर्शनमे भी विलम्ब हो रहा है । हमलोग धन-सन्तान और मान-कीर्तिके लिये जितना जी-तोड परिश्रम और सच्चे मनसे प्रयत्न करते हैं, जितना छटपटाते हैं, उतना परमात्माके लिये क्या अपने जीवनभरमे कभी किसी दिन भी हमने प्रयत्न किया है या हम छटपटाते है ? तुच्छ धन-मानके लिये भटकते और रोते फिरते हैं । क्या परमात्माके लिये व्याकुल होकर सच्चे मनसे हमने कभी एक भी आँसू गिराया है ? इस अवस्थामे हम कैसे कह सकते हैं कि परमात्माके दर्शन नहीं होते । हमारे मनमें परमात्माके दर्शनकी लालसा ही कहाँ है ? हमने तो अपना सारा मन अनित्य सासारिक विपयोके कूडे-कर्कटसे भर रक्खा है । जोरकी भूख या प्यास लगनेपर क्या कभी कोई स्थिर रह सकता है ? परन्तु हमारी भोग-लिप्सा और भगवान्‌के प्रति उदासीनता इस बातको सिद्ध करती है कि हमलोगोको भगवान्‌के लिये जोरकी भूख या प्यास नहीं लगी । जिस दिन वह भूख लगेगी उस दिन भगवान्‌-को छोडकर दूसरी कोई वस्तु हमें नहीं सुहावेगी । उस दिन हमारा चित्त सब ओरसे हटकर केवल उसीके चिन्तनमें तल्लीन हो जायगा । जिस प्रकार विशाल साम्राज्यके प्राप्त हो जानेपर साधारण कौडियोंके तुच्छ व्यापारसे स्वाभाविक ही मन हट जाता है, उसी प्रकार जगत्‌-

के बड़े-से-बडे भोग हमे तुच्छ और नीरस माळूम होने लगेगे। उस समय हम अनायास ही कहने लगेंगे—

इस जगकी कोई वस्तु न हमें सुहाती।
पल-पलमें श्यामल मूर्ति स्मरण है आती॥

भगवान् परम मधुर और परम आनन्दस्वरूप होनेपर भी हमे उनकी ओर पूरा आकर्षण नहीं है, इसका कारण यही है कि हमने उनके महत्त्वको भलीभॉति समझा नहीं, इसीलिये अमृतको छोड़कर हम रमणीय विषयोंके विषभरे लड्डुओके लिये दिन-रात भटकते हैं और उन्हें खा-खाकर बारंबार मृत्युको प्राप्त होते हैं। भगवान्के दर्शन दुर्लभ नहीं, दुर्लभ है उनके दर्शनकी दम्भशून्य और एकान्त लालसा! वे भगवान् जो नित्य और सत्य है, हर समय हर स्थानमे व्यापक हैं, किसी एक युगविशेषमे उनके दर्शन न हों यह बात कैसे मानी जा सकती है? ऐसा कहनेवाले लोग या तो श्रद्धासे रहित हैं या भगवान्की महिमाका भाव समझनेके लिये उन्हे कभी अवसर नहीं मिला।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि इन नेत्रोंकी सफलता नित्य अतृप्त-रूपसे उस नवीन नीलनीरज श्यामसुन्दरकी विश्व-विमोहिनी रूपमाधुरीका दर्शन करनेमें ही है। परन्तु जहाँतक भगवत्-कृपासे इन नेत्रोको दिव्य-भाव नहीं प्राप्त होता वहॉतक ये नेत्र उस रूपछटाके दर्शनसे वञ्चित ही रहते हैं। नेत्रोंको दिव्य बनाकर उन्हें सार्थक करनेका 'सिद्ध-मार्ग' उपर्युक्त 'परम व्याकुलता' ही है। जिस महानुभावके हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी तीव्रतम विरहाग्नि जल रही है वह तो सर्वथा स्तुतिका पात्र है। विरहाग्नि प्राय. बाहर नहीं निकला करती और जब कभी

वियोग-वेदना सर्वथा असह्य होकर बाहर फूट निकलती है । तब वह उसके सारे पाप-तापोंको तुरत जलाकर उसे प्रेममे पागल बना देती है । उस समय वह भक्त अनन्य प्रेममे मतवाला भक्त–व्रजगोपियोंकी भाँति सब कुछ भूलकर उस प्राणाधिक मनमोहनके दर्शनके लिये दौड़ता है और अपनी सारी शक्ति और सारा उत्साह लगाकर उसको पुकारता है । बस, इसी अवस्थामे उसे भगवान्‌के दर्शन प्राप्त होते हैं, दर्शन उसी रूपमें होते हैं कि जिस रूपमे वह दर्शन करना चाहता है एव व्यवहार, बर्ताव या वार्तालाप भी प्राय उसी प्रकारका होता है कि जिस प्रकार उसने पहले चाहा है !

ऐसी स्थितिको प्राप्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि पहले वह सत्सगके द्वारा भगवान्‌के अतुलनीय महत्त्वको कुछ समझे और उसके निरन्तर नामजप तथा ध्यानके द्वारा अपने अन्तरमें उसके प्रति कुछ प्रेम उत्पन्न करे । ज्यो-ज्यों भगवत्-प्रेमसे हृदय भरता जायगा त्यों-ही-त्यों वहाँसे विषय हटते चले जायँगे । यों करते-करते जिस दिन वह अपना हृदयासन केवल परमात्माके लिये सजा सकेगा, उसी दिन और उसी क्षणमे उसके हृदयमें परम व्याकुलता उत्पन्न होगी और वह व्याकुलता अत्यन्त तीव्र होकर भगवान्‌के हृदयमे भी भक्तको दर्शन देनेके लिये वैसी ही व्याकुलता उत्पन्न कर देगी । इसके बाद तत्काल ही वह शुभ समय प्राप्त होगा, जिसमे कि भक्त और भगवान्‌का परस्पर प्रत्यक्ष मिलन होगा और उससे भूमि पावन हो जायगी ।

क्या दूसरे भी देख-सुन सकते हैं ?

एक सज्जन लिखते है—'कल्याण'में 'क्या भगवान‍्के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं ?' शीर्षक लेख पढ़कर चित्त अति आनन्दित हुआ और विश्वास होता है कि दयामय प्रभुका दर्शन इस चर्मचक्षुसे महानुभाव भक्तोंको निश्चय हो सकता है, पर अब यह जाननेकी इच्छा होती है कि यदि कोई भगवद्भक्त इस चर्मचक्षुसे स्थूल शरीरमें प्रभुका एकान्तमे दर्शन करता हो और कुछ वार्तालाप भी करता हो, जैसे स्त्री अपने पतिसे या पिता अपने पुत्रसे, तो उस समय यदि दूसरा भक्त वहाँ चला जाय या छिपकर देखे तो उस भक्तको भी प्रभुके दर्शन चर्मचक्षुसे वैसे ही हो सकते हैं और वह उनका वार्तालाप

सुन सकता है या नहीं ? कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि किसी कोठरीमें किवाड़ बंद करके स्त्री अपने पतिसे वार्तालाप करती हो उस समय कोई तीसरा व्यक्ति उनके वार्तालाप सुननेकी इच्छासे दरवाजेपर जाकर किवाडकी सूराखसे सुनना चाहता है तो वह देख या सुन सकता है। उसी तरह एक भक्तको प्रभुसे वार्तालाप करते दूसरा भक्त चर्मचक्षुसे प्रभुको उसी स्वरूपमें देख सकता है या नहीं ? यदि इसके उत्तरमें यह कहा जाय कि उस भक्तको भी ईश्वरमें उतना ही प्रेम होना चाहिये तो हम कहेंगे कि पूर्व उदाहरणमें तीसरे व्यक्तिको स्त्री-पतिके समान प्रेम नहीं होते हुए भी वह वार्तालाप सुन सकता है, तो यहाँ भी वैसा ही क्यों नहीं होना चाहिये ?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वास्तवमे इस विषयमें कोई खास नियम नहीं देखनेमे आता। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे चाहें तो पात्रापात्रका भेद छोडकर सबके सामने प्रकट हो सकते हैं। वे चाहें तो बहुत-से लोगोंके सामने अपने भक्तसे चुपचाप बातचीत करके चले जा सकते हैं, दूसरोंको पता भी नहीं लगता। वे चाहें तो दूसरोंको पता लगनेपर भी उनको अपना दर्शन नहीं देते या अपनी वाणी नहीं सुनाते। वे चाहते हैं तो उस एक भक्तके अतिरिक्त अन्यान्य अनेकमें किसी एक या दोको अथवा अधिकको दर्शन देकर, बातें कर-कर या केवल बातें सुनाकर अन्तर्धान हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। अघटनघटनापटीयसी मायादेवी जिनकी चेरी है, उनके लिये कौन-सा कार्य असम्भव है ? उनकी इच्छापर और किसीकी भी इच्छा नहीं चलती। हाँ, यदि

कोई प्यारा भक्त माता-पिताके अड़ियल बच्चेकी तरह किसी बातका जिद कर बैठता है तो वह भगवान्‌को अपनी इच्छाके अनुकूल कार्य करनेमें भी बाध्य कर सकता है। क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान् होते हुए भी भक्तोंकी प्रेमडोरीमें बँधे हुए उनके इशारेपर नाचनेको तैयार रहते हैं, वे भक्तोंकी उपासना किया करते हैं। त्रिभुवनको नचानेवाले ब्रह्म श्यामरूपसे यशोदाकी डोरीमें ऊखलसे बँध जाते हैं, समस्त विश्वका भरण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर छछियाभर छाछके लिये व्रजकी ग्वालिनो-के इशारेपर नाचने लगते हैं। भक्त रसखानिने क्या ही सुन्दर कहा है--

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
जाहि हिये लखि आनँद ह्वै जड़ मूढ़ हिये रसखान कहावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

भक्तिके बलसे भक्त सब कुछ करनेमें समर्थ रहता है।

भगवान् कहते हैं--

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०-२५)

'हे उद्धव ! मेरी दृढ भक्तिके समान योग, विज्ञान, वेदाध्ययन, तप और दान आदि साधनोंसे मैं नहीं मिल सकता । साधुजनोंका प्यारा आत्मा मैं श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभतासे मिलता हूँ । मेरी भक्ति चाण्डाल आदिको भी पवित्र बना देती है, यह निश्चय समझो कि सत्य और दयासे युक्त धर्म तथा तपयुक्त ज्ञान मेरी भक्तिसे रहित जीवको पूर्णरूपसे पवित्र नहीं कर सकते । बिना रोमाञ्च हुए, बिना आनन्दके आँसू बहाये भक्तिका ज्ञान क्योंकर हो सकता है ? बिना भक्तिके हृदय शुद्ध कैसे हो सकता है ? मेरी भक्तिसे जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय पिघल जाता है, जो बारबार उच्चस्वरसे नाम लेकर मुझे पुकारता है । कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोडकर नाचता है, ऊँचे स्वरसे मेरे गुण गाता है वह मेरा पूर्ण भक्त तीनों लोकोंको पवित्र करता है । जैसे अग्निमें तपनेसे सुवर्ण मैल छोड़कर अपने रूपको प्राप्त होता है, वैसे ही मेरे भक्तियोगसे आत्मा

भी कर्मवासना त्यागकर मुझ (परमात्मा) को प्राप्त होता है ।'
भगवान्‌ने श्रीगीतामें भी कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिसे ही मै इस (चतुर्भुज) रूपमें प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना और ऐक्यभावसे प्राप्त किया जा सकता हूँ ।'

ऐसे परमात्मामे अभिन्नरूपसे स्थित पूर्ण भक्त यदि चाहें तो सब कुछ कर सकते हैं, परन्तु वे ऐसा करते नहीं । वे अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा ही नहीं रखते, वे तो अपने मनको और अपनी इच्छाओंको भगवान्‌के मन और उसकी इच्छामे एकमेक कर देते है, अतएव भगवान् और भक्तकी इच्छाओंमें परस्पर विरोध होना बड़ा ही कठिन है । वे तो दोनों एक दूसरेके हृदयमे अभिन्नरूपसे स्थित रहते है । भगवान्‌ने कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६८)

'साधुजन मेरा हृदय हैं और मैं साधुजनोंका हृदय हूँ, वे लोग मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा अन्य किसीको नहीं जानता ।'

इससे अब सारी बातें भगवान्‌की इच्छापर रह जाती है । इसमें स्त्री-पुरुषका उदाहरण नहीं दिया जा सकता । वे साधारण मनुष्य

होते हैं, उनके गुप्त रहस्यको छिपकर कोई भी देख या सुन सकता है, परन्तु सर्वतोचक्षु सर्वान्तर्यामी सर्वसमर्थ भगवान्के लिये ऐसी बात नहीं है और न इसमे कोई आश्चर्यकी या अप्राकृत बात ही है। योगी अपने योगबलसे सबके सामने अदृश्य रह सकता है, अपनी वाणीका उपयोग अपने इच्छानुसार जनसमूहमें किसी एकके साथ ही कर सकता है। पूर्व कालके ऐसे अनेक सिद्धिप्राप्त राक्षसोंके भी इतिहास मिलते हैं जो एकसे अदृश्य रहकर सबके सामने प्रकट हो सकते थे या सबसे अदृश्य रहकर एकके सामने प्रकट होते थे। मय-दानवकी कारीगरीमे जलका स्थल और स्थलका जल दीखता था। न दीखना, एकको दीखना, छोटा-बड़ा या भिन्न-भिन्न आकारमे दीखना ये सब सिद्धियोंके कार्य हैं। जब आसुरी सम्पत्तिवाले लोग भी सिद्धि प्राप्तकर ऐसा आचरण कर सकते हैं तब पूर्णयोगेश्वर, समस्त सिद्धियोंके आधार, करने, न करने और अन्यथा करनेमे सर्वथा समर्थ भगवान् जो चाहें सो करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? भगवान् श्रीकृष्ण कंसराजकी सभामें प्रवेश करते समय एक ही अनेक रूपोमें दीख पडे थे--

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भा० १०।४३।१७)

'रंगभूमिमें बलदेवजीसहित भगवान् श्रीकृष्ण मल्लोंको वज्रके

रूपमे, मनुष्योंको मनुष्यश्रेष्ठरूपमे, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेवके रूपमें, सुदामा, श्रीदाम आदि गोपोंको स्वजनरूपमें, दुष्ट राजाओंको शासकके रूपमे, माता और पिताको बालकरूपमे, कसको साक्षात् मृत्युरूपमें, अज्ञानियोंको जडरूपमे, योगियोंको परमतत्त्व परब्रह्मरूपमें और यादवोंको परमदेवताके रूपमें दीख पड़े।' अतएव यह कोई नियम नहीं है कि भगवान् एकको एक ही रूपमे दीखें या सभीको दीखें अथवा उनकी बाते एकको ही सुनें या सबको सुने। वे चाहे सो कर सकते हैं। भक्तको दर्शन देने और उससे बातें करनेमे प्रेम तो प्रधान है ही परन्तु वे कब, कैसा, क्यों और क्या कार्य करना चाहते हैं, इस बातको वही जानते हैं, हमलोग अपनी ससारी बुद्धिसे उसका निर्णय करनेमे असमर्थ हैं।

हमें तो इसी बातपर विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं, एकान्तमे हो सकते हैं और जनसमूहमे भी! भगवान्‌की अनूप-रूप-माधुरी और उनकी अमृतको लजानेवाली मधुर वाणी उनके इच्छानुसार एक या दो भक्तोंके दृष्टि और श्रुति-गोचर हो सकती है और सबके भी!

इस विश्वासके साथ अपने माने हुए समस्त भोग्यपदार्थोंको उस परम प्रियतमके चरणकमलोंमें समर्पण कर उसीके परायण हो उसके विश्व-मोहन दर्शन करनेके लिये उसीकी भक्तिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये, इसीमे कल्याण है।



भगवान् कहाँ रहते हैं ?

एक समय बहुत-से ब्राह्मणोंने भगवान् व्यासजीसे किसी ऐसे यज्ञकी विधि पूछी, जिसका अनुष्ठान सभी वर्णोंके छोटे-बड़े सब लोग कर सकते हों और जिसके करनेसे मनुष्य देवताओंका भी पूज्य बन सकता हो। व्यासजीने जवाब देते हुए कहा—मैं आपलोगोंको पाँच आख्यान सुनाता हूँ। इन आख्यानोंके अनुसार व्यवहार करनेसे स्वर्ग, यश और मोक्षकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। **(१) माता-पिताकी सेवा, (२) पतिसेवा, (३) सर्वभूतोंमें समदृष्टि, (४) मित्र-द्रोह न करना और (५) भगवान् विष्णुकी भक्ति करना—ये पाँच महायज्ञ हैं।**

हे ब्राह्मणो ! मनुष्य माता-पिताकी सेवासे जिस पुण्यको प्राप्त होता है वह पुण्य सैकड़ों यज्ञ और तीर्थयात्रादिसे भी नहीं मिलता।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

'पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता ही परम तप है, पिताके प्रसन्न होनेसे सारे देवता प्रसन्न होते हैं। जिस मनुष्यकी सेवासे और गुणोंसे माता-पिता प्रसन्न होते हैं, वह गङ्गास्नानका फल पाता है। माता सर्वतीर्थमयी और पिता सर्वदेवमय है। ऐसे माता-पिताकी जो पुत्र प्रदक्षिणा करता है वह पृथ्वीभरकी प्रदक्षिणा कर चुका। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके दोनों घुटने, दोनो हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं वह अक्षय स्वर्ग प्राप्त करता है। जो पुत्र माता-पिताके चरण धोकर चरणामृत लेना है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। जो नीच मनुष्य कड़ी जबानसे माता-पिताका अपमान करता है वह अनेक कालतक नरकमे रहता है। जो अधम मनुष्य माता-पिताकी सेवा किये बिना ही भोजन करता है वह मरनेपर कृमिकूप नामक नरकमे जाता है। जो मनुष्य रोगी, वृद्ध, वृत्तिहीन, अन्धे या बहरे पिताका त्याग कर देता है वह रौरव-नरकमें जाता है। माता-पिताका पालन न करनेसे मनुष्यके समस्त पुण्य नष्ट हो जाते हैं और उसे म्लेच्छ-चाण्डालादि योनियोंमें जन्म लेना पडता है। माता-पिताकी सेवा न करके तीर्थसेवा या देवाराधना करनेसे उनका फल नहीं मिलता। हे ब्राह्मणो ! इस सम्बन्धमें एक पुराना इतिहास कहता हूँ, मन लगाकर सुनो !

प्राचीन कालमें नरोत्तम नामक एक ब्राह्मण था, वह माता-पिताकी सेवा छोडकर तीर्थयात्राके लिये घरसे निकला। तीर्थसेवाके बलसे उसकी नहाकर धोयी हुई धोती प्रतिदिन बिना ही आधार आकाशमे उड़कर सूखने लगी। इस प्रकार कुछ समय बीतनेपर उस ब्राह्मणको अहङ्कार हो गया और वह कहने लगा कि मेरे समान पुण्यवान् और यशस्वी मनुष्य संसारमे दूसरा नहीं है। उसी समय एक बगुलेने उसके मुँहपर बीट कर दी। इससे उसको बड़ा क्रोध हुआ और उसने बगुलेको शाप दे डाला। शाप देते ही बगुला पृथ्वीपर पड़कर भस्म हो गया। इस जीवहिंसाके फलसे ब्राह्मणके मनमें मोह हो गया। उसकी गीली धोती जो अबतक बिना ही आधार आकाशमे सूखती हुई उसके साथ चलती थी, अब नहीं चली। जीवहिंसाके पापसे उसकी यह सिद्धि जाती रही। इस घटनासे ब्राह्मणको बडा दुःख हुआ। तब यह आकाशवाणी हुई कि 'हे ब्राह्मण! तुम परम धार्मिक मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेपर तुम्हें धर्मके असली मर्मका पता लगेगा और उसके उपदेशसे तुम्हारा मङ्गल होगा।'

इस आकाशवाणीको सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गया। वहाँ जाकर ब्राह्मणने देखा कि वह चाण्डाल सवेरेसे माता-पिताकी सेवामें लगा हुआ है। जाडेके दिनोंमें वह गर्म जल, तेल, अग्निताप, ताम्बूल और बहुत-सी रूईके बिछौने आदिसे उनकी सेवा करता। वह चाण्डाल रोज उनको खानेके लिये मधुर अन्न और दूध देता। वसन्तऋतुमें मधु, सुगन्धित माला और अन्यान्य रुचिकर पदार्थोंसे

तथा गर्मीके दिनोंमें पंखेसे हवा करके उनकी सेवा करता। नित्य उनकी सेवा करनेके बाद वह भोजन करता। इस प्रकार वह चाण्डाल सर्वदा माता-पिताकी थकावट मिटाने और उनको सुख पहुँचानेके काममें लगा रहता। उसके इस पुण्यबलसे विष्णुभगवान् उसके घरमें बहुत दिनोंसे निवास करने लगे थे। ब्राह्मणने उस चाण्डालके घरमें एक ऐसे कमरेमें, जो बिना ही खम्भोंके खड़ा था, त्रिभुवनेश्वर परमपुरुष अन्य प्राणियोंसे अतुलनीय तेजोमय महासत्त्व विष्णुभगवान्‌को सुन्दर ब्राह्मण-शरीरसे चाण्डालके घरकी शोभा बढ़ाते हुए देखा। तदनन्तर उसने आश्चर्यमें भरकर मूक चाण्डालसे कहा कि 'चाण्डाल! तू मेरे पास आ। मैं तेरी सहायतासे परमपद पानेकी इच्छा करता हूँ। सब लोगोंके लिये खासकर मेरे लिये जो हितकर हो, मुझको तू वही उपदेश कर।' मूकने कहा, 'मैं इस समय अपने माता-पिताकी सेवामें लगा हूँ, आपके पास कैसे आऊँ? इनकी सेवा कर चुकनेपर आपका काम करूँगा। आप दरवाजेपर ठहरिये, मैं आपका आतिथ्य करूँगा।'

चाण्डालकी यह बात सुनकर ब्राह्मणने क्रोधित होकर कहा—'मैं ब्राह्मण हूँ, मुझको छोड़कर ऐसा कौन-सा श्रेष्ठ कार्य है जिसे तू करना चाहता है?' मूकने कहा—'हे ब्राह्मण! आप व्यर्थ ही क्यों क्रोध करते हैं? मैं बगुला नहीं हूँ जो आपके क्रोधसे जल जाऊँ। आकाशमें अब आपकी धोती नहीं सूखती, आप आकाशवाणी सुनकर यहाँ आये हैं इस बातको मैं जानता हूँ। आप जरा ठहरिये, मैं उपदेश दूँगा। जल्दी हो तो आप पतिव्रताके पास जाइये, वहाँ जानेसे आपका कार्य सफल होगा।'

इसके बाद ब्राह्मणरूपी भगवान् विष्णुने मूकके घरसे निकलकर नरोत्तमसे कहा कि 'चलो, मुझे भी उसी पतिव्रताके घर जाना है ।' नरोत्तम कुछ सोचता हुआ उनके साथ हो लिया । रास्तेमे आश्चर्य प्रकट करते हुए नरोत्तमने ब्राह्मण-वेष-धारी विष्णुसे पूछा कि 'विप्रवर ! आप स्त्रियोंसे युक्त चाण्डालके घरमें सदा क्यों रहते हैं ?' हरिने कहा, 'अभी तुम्हारा चित्त शुद्ध नहीं हुआ है । पतिव्रता आदिसे मिलनेके बाद तुम मुझे पहचान सकोगे ।' नरोत्तमने कहा, 'हे द्विज ! वह पतिव्रता कौन है ? उसमें ऐसी कौन-सी महान् बात है जिसके लिये मैं वहाँ जा रहा हूँ ?' हरिने कहा, 'जैसे नदियोंमें गङ्गा, मनुष्योंमे राजा और देवताओंमें जनार्दन श्रेष्ठ हैं, वैसे ही स्त्रियोंमें पतिव्रता प्रधान है । जो पतिव्रता स्त्री नित्य पतिके प्रिय-हित कार्यमें रत है वह दोनों कुलोंका उद्धार करती है और प्रलयकालपर्यन्त स्वर्गमें रहती है । उसका पति अगर स्वर्गसे गिरता है तो वह सार्वभौम राजा होकर पृथ्वीपर जन्म लेता है और पतिव्रता उसकी रानी होकर सुख भोग करती है । इस प्रकार बारबार स्वर्ग-राज्यका उपभोग करनेके अनन्तर वे दोनो मुक्त हो जाते है ।' नरोत्तमने फिर पूछा कि 'वह पतिव्रता कौन है ? उसके क्या लक्षण हैं ? मुझे यथार्थरूपसे समझाइये ।' हरिने कहा, 'जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौ गुने स्नेहसे पतिकी सेवा करती है और शासनमे उसे राजाके समान मानती है, वही स्त्री पतिव्रता है—

> कार्ये दासी रतौ रम्भा भोजने जननीसमा ।
> विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता ॥

'जो स्त्री काम-काजमें दासी, रतिकालमें रम्भा, भोजन करानेमे

जननी और विपत्तिकालमे सत् परामर्श देनेवाली होती है वही पतिव्रता है। जो स्त्री मन, वाणी, शरीर या कर्मसे कभी पतिके विरुद्ध आचरण नहीं करती, वही पतिव्रता है, जो केवल अपने पतिकी सेजपर ही सोती है, नित्य पतिकी सेवा करती है, कभी मत्सरता, कृपणता या अभिमान नहीं करती, मान-अपमानमें पतिको समानभावसे ही देखती है, वही साक्षात् पतिव्रता है। जो सती स्त्री सुन्दर वस्त्राभूषणधारी पिता, भ्राता और पुत्रको देखकर भी उन्हें परपुरुष समझती है वही यथार्थ पतिव्रता है। हे द्विजवर! तुम उस पतिव्रताके पास जाकर अपनी मनोकामना उससे कहो। तुम जिसके घर जा रहे हो, उस ब्राह्मणके आठ स्त्रियाँ हैं, उनमें जो रूपयौवन-संपन्ना, यशस्विनी और दयावती है उसीका नाम शुभा है, वह प्रसिद्ध पतिव्रता है। तुम उसके पास जाकर अपने हितकी बातें उससे पूछो।' इतना कहकर भगवान् हरि अन्तर्धान हो गये। नरोत्तमको उनके अन्तर्धान होते देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। नरोत्तमने उस पतिव्रताके घर पहुँचकर उससे अपने हितकी बात पूछी। पतिव्रता सती अतिथिकी बात सुनकर घरके बाहर आयी और ब्राह्मणको देखकर दरवाजेपर खड़ी रह गयी। ब्राह्मणने पतिव्रताको देखकर हर्षके साथ कहा—'साध्वी! आपको जो कुछ मालूम है सो मेरे हितके लिये कहिये।' पतिव्रताने कहा, 'इस समय तो मुझे पतिकी सेवा करना है, मुझे अभी फुरसत नहीं है, पीछे आपका काम करूँगी, आज आप यहीं आतिथ्य ग्रहण करें।' ब्राह्मणने कहा, 'कल्याणी! मुझे आज भूख, प्यास या थकावट कुछ भी नहीं है। मैं जिस विषयको जानना चाहता हूँ वह मुझे बतला दो, नहीं तो

तुम्हें शाप दूँगा।' इसपर पतिव्रताने कहा कि 'हे द्विजोत्तम ! मुझे आप वह बगुला न समझे ! आप धर्म तुलाधारके पास जाकर उससे अपने हितकी बात पूछें, वे आपको हितोपदेश करेंगे।'

महाभागा शुभा इतना कहकर घरके अदर चली गयी, इसके बाद नरोत्तमने उसके घरमे जाकर देखा कि वही ब्राह्मण जो मूक चाण्डालके घरमे था और बहुत दूरतक साथ-साथ आया था, यहाँ भी बैठा हुआ है। नरोत्तमको इससे बडा अचम्भा हुआ, उसने ब्राह्मणरूपी विष्णुके पास जाकर कहा कि 'देशान्तरमें मेरे सम्बन्धमे जो घटना हुई थी, मालूम होता है आपने ही इन लोगोंसे उसे कह दिया है, नहीं तो चाण्डाल और इस पतिव्रताको मेरी उस घटनाका हाल कैसे मालूम होता ?' हरिने कहा, 'भूतभावन महात्मागण अपने पुण्य और सदाचारके बलसे सभी बातें जान सकते हैं। पतिव्रताने तुमसे क्या कहा है सो मुझे बतलाओ।' नरोत्तमने कहा, 'मुझे पतिव्रताने धर्म तुलाधारके पास जाकर प्रश्न करनेका आदेश किया है।' हरिने कहा, 'अच्छी बात है, तुम मेरे साथ चलो, मै भी वहीं जाऊँगा।' इतना कहकर हरि चलनेको तैयार हो गये। नरोत्तमने पूछा, 'उस धर्म तुलाधारका मकान कहाँ है ?' हरि बोले, 'जहाँपर लोग बहुत-सी चीजें खरीदते-बेचते है उसी बाजारमें तुलाधार रहते है। लोग धान, रस, तैल, अन्न आदि वस्तुएँ उसके धर्मकाँटेपर तौलकर देते-लेते हैं। वह नरश्रेष्ठ प्राण जानेपर भी कभी झूठ नहीं बोलता। उसके इसी कामसे उसका नाम धर्म तुलाधार पड़ गया है।' हरिके इतना कहते-कहते ही नरोत्तम तुलाधारके पास पहुँच गया। देखा, तुलाधार बहुत-सा रस

बेच रहा है। उसका शरीर मैला-कुचैला हो रहा है। वह लेन-देन-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी बातें कर रहा है। अनेक प्रकारके नर-नारियोने उसे चारों ओरसे घेर रक्खा है। तुलाधारने ब्राह्मणको देखते ही कहा, 'क्यों क्यों ? क्या काम है ?' यो उसकी बात सुनकर ब्राह्मणने मधुर वाणीसे कहा, 'भाई ! मै तुम्हारे पास धर्मोपदेश ग्रहण करने आया हूँ, तुम मुझे उपदेश करो।' तुलाधारने कहा, 'महाराज ! अभी तो मेरे ग्राहकोकी भीड़ लग रही है, एक पहर राततक मुझे फुरसत नहीं मिलेगी। आप मेरे कहनेसे धर्माकरके पास जाइये। बगुलेकी हिंसाका दोष और आकाशमें धोती न सूखनेका कारण आदि सभी बाते वे आपको बतला सकते हैं। उनका नाम अद्रोहक है, वे बडे ही सज्जन हैं, उनके उपदेशसे आपके सम्पूर्ण काम सफल हो सकेंगे।' तुलाधार ब्राह्मणसे इतना कहकर फिर अपने लेन-देनमे लग गया। तब नरोत्तमने ब्राह्मण-वेष-धारी हरिसे कहा, 'महाराज ! मैं तुलाधारके उपदेशसे अद्रोहकके पास जाऊँगा, परन्तु मै उनका घर नहीं जानता, क्या आप बतला देंगे ?' हरिने कहा, 'आओ आओ ! मैं भी तुम्हारे साथ उनके घर चलूँगा।' रास्तेमें नरोत्तमने हरिसे पूछा, 'महाराज! यह तुलाधार समयपर स्नान या देव-पितृ-तर्पण कुछ भी नहीं करता। इसका सारा शरीर मैला हो रहा है, कपड़ोमे गन्ध आ रही है। यह मेरी देशान्तरमें होनेवाली घटनाओंको कैसे जान गया ? यह सब देखकर मुझे बडा ही ताज्जुब हो रहा है, आप इसका कारण बतलाइये।' हरिने कहा, 'सत्य और समदर्शनके प्रतापसे तुलाधारने तीनों लोकोको जीत लिया है, इसीसे देव-पितर और मुनिगण भी इससे तृप्त हो गये हैं और इसी

कारणसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमानकी सब कुछ जानता है—

> नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकः परम् ।
> विशेषे समभावस्य पुरुषस्यानघस्य च ॥
> अरौ मित्रेऽप्युदासीने मनो यस्य समं व्रजेत् ।
> सर्वपापक्षयस्तस्य विष्णुसायुज्यतां व्रजेत् ॥

'सत्यसे बढकर परम धर्म नहीं है और झूठसे बढकर बड़ा पाप नहीं है । जो निष्पाप शमदर्शी पुरुष है, शत्रु, मित्र और उदासीन सभी जिनके मन समान है, उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वे विष्णुभगवान्के सायुज्य (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।' जो मनुष्य सदा ही ऐसा व्यवहार करते हैं वे अपने कुलोंका उद्धार करनेवाले होते हैं । सत्य, दम, शम, धैर्य, स्थिरता, अलोभ, अनैश्वर्य और अनालस्य सभी उनमें रहते हैं । वह धर्मज्ञ देव और नरलोकके सभी विषयोंको जानते है, उनके देहमें साक्षात श्रीहरि निवास करते है, जगत्में उनके समान कोई नहीं होता । जो सत्य, सरल और समदर्शी हैं वह साक्षात् धर्ममय हैं । वास्तवमें इस जगत्को वही धारण करते हैं । इसपर नरोत्तमने कहा, 'आपकी कृपासे मैंने तुलाधारका रहस्य तो जाना, अब यदि आप उचित समझें तो अद्रोहकका भी इतिहास बतला दें ।' हरिने कहा, 'किसी एक राजकुमारके सुन्दरी नामकी एक परम सुन्दरी नवयुवती भार्या थी । वह अपने पतिको बड़ी ही प्यारी थी । राजकुमारको किसी खास कामसे अकस्मात् बाहर जानेकी आवश्यका पडी, वह अपने मनमें चिन्ता करने लगा कि, 'इस प्राणोंकी पुतली प्रियाको किसके पास छोड़कर जाऊँ, कहाँ इसकी रक्षा हो सकेगी ?' अन्तमें

उसने अद्रोहकके पास जाकर कहा कि, 'मै बाहर जाता हूँ, जबतक लौटकर न आऊँ तबतक मेरी इस नवयुवती सुन्दरी स्त्रीकी रक्षाका भार तुम ग्रहण करो।' राजकुमारके इस प्रस्तावसे अद्रोहकने आश्चर्यमे पड़कर कहा कि 'मैं तो आपका पिता, भाई या मित्र नहीं हूँ, न आपके माता-पिताके कुलसे ही मेरा सम्बन्ध है। आपकी पत्नीसे भी मेरा कोई कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं है, इस अवस्थामे मेरे घर अपनी स्त्रीको रखकर आप कैसे स्वस्थ रह सकेंगे?' राजकुमारने कहा, 'संसारमे आपके समान धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय पुरुष दूसरा कोई नहीं है।' अद्रोहकने कहा, 'आप बुरा न मानें, देखिये, त्रैलोक्यमोहिनी भार्याकी कौन पुरुष रक्षा कर सकता है?' राजकुमार बोले, 'मैं अच्छी तरह सोच-समझकर ही आपके पास आया हूँ। मेरी स्त्रीको आप ही रखिये, मैं अपने घर जाता हूँ।' राजपुत्रके ऐसा कहनेपर अद्रोहकने फिर कहा, 'इस शोभायुक्त नगरीमें कामी पुरुषोकी भरमार है, मैं कैसे तुम्हारी स्त्रीकी रक्षा कर सकूँगा?' राजकुमारने कहा, 'आप जैसे ठीक समझें वैसे ही रक्षा करें, मै चलता हूँ।' गृहस्थ अद्रोहकने धर्म-सङ्कटमे पड़कर राजकुमारसे कहा, 'हे पिता! मै इस अरक्षिता स्त्रीकी रक्षाके निमित्त जो देखनेमे अनुचित होगा, ऐसा कर्म भी उचित और हितकर समझकर करूँगा। मै इसे रातको अकेली नहीं रख सकता, अतएव मैं अपनी भार्याके साथ जिस शय्यापर सोता हूँ, उसीपर इसे भी सोना पड़ेगा। आपको इसमे आपत्ति हो तो अपनी स्त्रीको वापस ले जाइये, नहीं तो छोड़ जाइये।' राजकुमारने कुछ देरतक सोचकर कहा, 'अच्छी बात है, आप जैसा उचित समझें

वैसा ही करें ।' तदनन्तर राजकुमारने अपनी पत्नीसे कहा, 'सुन्दरि ! इनके आज्ञानुसार सब काम करना, इसमें तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा ।' राजपुत्र इतना कहकर अपने पिता नरेशके आज्ञानुसार वहाँसे चला गया । अद्रोहकने रातको वही किया । वह धार्मिक पुरुष रातको अपनी स्त्री और राजपुत्र-पत्नीके बीचमें एक शय्यापर सोने लगा, परन्तु धर्मपथसे कभी नहीं डिगा । राजकुमार-पत्नीका नींदमें कभी अङ्ग स्पर्श होता तो उसे अपनी जननीके अङ्गके समान प्रतीत होता । वह इस प्रकार मन-इन्द्रियोंको जीतकर रहा कि उसकी स्त्री-सङ्ग-प्रवृत्ति ही जाती रही । इस प्रकार छः महीने बीतनेपर राजकुमार विदेशसे लौटकर घर आया । बराबरीवालोंने पूछा, 'तुम्हारी स्त्री पीछेसे कहाँ रही ?' उसने कहा, 'अद्रोहकके घर ।' कुछ युवकोंने व्यंगसे कहा, 'अच्छा किया जो अपनी स्त्री अद्रोहकको दान कर गये, वह रातको उसके साथ सोता था । स्त्री-पुरुषके एक साथ सोनेपर भी क्या कभी संयम रह सकता है ?' इस तरह लोग तरह-तरहके दोष लगाने लगे । अद्रोहकको इस बातका पता लगा, तब उसने इस जनापवादकी निवृत्तिके लिये काठकी एक चिता बनाकर उसमें आग लगा दी । इतनेमें ही राजपुत्र वहाँ आ पहुँचा, राजकुमारने अपनी स्त्रीको प्रसन्नमुख और अद्रोहकको विषादयुक्त देखकर अद्रोहकसे कहा, 'भाई ! मैं आपका मित्र बहुत दिनों बाद विदेशसे लौटकर आया हूँ, आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं ?'

अद्रोहकने कहा, 'मैंने आपकी स्त्रीको घर रखकर बदनामी मोल ले ली, उसे दूर करनेके लिये मैं आज अग्निमें प्रवेश करूँगा, सम्पूर्ण देवता मेरे कृत्यको देखें ।' इतना कहकर अद्रोहक धधकती

हुई अग्निमें कूद पड़ा, परन्तु आश्चर्य कि उसका एक बाल भी नहीं जला। देवतागण आकाशसे साधु-साधु कहने लगे। चारों ओरसे पुष्पवृष्टि होने लगी। जिन लोगोंने अद्रोहकपर दोष लगाया था, उनके मुखोंपर कुष्ठ रोग हो गया। देवताओंने आकर उसको अग्निसे निकाला। मुनियोंने विस्मित होकर सुन्दर पुष्पोंसे उसकी पूजा की। फिर महातेजस्वी अद्रोहकने भी उन सबकी पूजा की। सुर-असुर और मनुष्योंने मिलकर अद्रोहकका नाम सज्जनाद्रोहक रक्खा। उसकी चरण-रजसे पृथ्वी हरी-भरी हो गयी। तब देवताओंने राज-कुमारसे कहा कि 'तुम अपनी स्त्रीको ग्रहण करो, अद्रोहकके समान जगत्‌में दूसरा कोई नहीं है। जगत्‌में सभी लोग कामके वश हैं। काम, क्रोध, लोभ सभी प्राणियोंमें हैं, कामसे संसारमें बन्धन होता है, यह जानकर भी लोग अकामी नहीं होते। इस अद्रोहकने कर्तव्य-पालनके लिये कामको जीतकर मानो चौदह भुवनोंको जीत लिया है, इसके हृदयमें नित्य वासुदेव विराजमान हैं।' यों कहकर सब लोग और राजपुत्र अपनी पत्नीसहित अपने-अपने घर चले गये। उस समय अद्रोहकको कामजयके प्रतापसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी, वह तीनों लोकोंकी सभी बातोंको अनायास देखने और जाननेमें समर्थ हो गया।

इस प्रकार बातें होते-होते ही नरोत्तम ब्राह्मण अद्रोहकके घर आ पहुँचा। नरोत्तमने अद्रोहकसे धर्मका तत्त्व पूछा। अद्रोहकने कहा, 'हे धर्मज्ञ विप्र! आप पुरुषोत्तम वैष्णवके घर जाइये, उनके दर्शनसे ही आपकी मनोकामना पूर्ण हो जायगी। बगुलेकी मृत्यु और धोती सूखने आदिके सभी भेद वे आपको बता सकते हैं।' नरोत्तम यह सुनकर ब्राह्मण-वेष-धारी विष्णुके साथ पुरुषोत्तम वैष्णव-

के घर आया । नरोत्तमने देखा कि वैष्णव परम शुद्ध, शान्त, समस्त उत्तम लक्षणोंसे युक्त और अपने तेजसे देदीप्यमान हो रहे हैं । धर्मात्मा नरोत्तमने उस ध्यानस्थ भगवद्भक्तसे कहा, 'मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ, आप मुझे उपदेश कीजिये ।' पुरुषोत्तम बोले, 'देवश्रेष्ठ भगवान् हरि सदा ही तुमपर प्रसन्न हैं, हे ब्राह्मण ! आज तुम्हें देखकर मेरे मनमें बड़ा आह्लाद हो रहा है । मेरे घरमें भगवान्के दर्शनसे तुम्हारा अतुलनीय कल्याण होगा । तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा ।' नरोत्तमने कहा, 'आपके घरमें विष्णुभगवान् कहाँ विराजमान हैं, कृपाकर मुझे दिखला दें ।' वैष्णवने कहा, 'इस रमणीय देव-मन्दिरमें प्रवेश करते ही तुम भगवान्के दर्शन कर घोर पाप और जन्म-कर्मके बन्धनोंसे छूट जाओगे ।' वैष्णवके इन वचनोंको सुनकर नरोत्तमने मन्दिरमें प्रवेश करके देखा कि भगवान्की मूर्तिकी जगह वही ब्राह्मण-वेषधारी विष्णु उसी रूपमें पद्मासनसे बैठे हुए हैं । नरोत्तमने उनको देखते ही मस्तकद्वारा प्रणाम कर उनके चरण पकड़ लिये और कहा, 'हे देवेश ! मैं आपको पहले पहचान न सका । अब आप मुझपर प्रसन्न होइये, हे प्रभो ! मैं इस लोक और परलोकमें आपका दास बना रहूँ । हे मधुसूदन ! मुझपर कृपादृष्टि कीजिये । यदि वास्तवमें आपकी मुझपर कृपा है तो अपने स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये ।' भगवान्ने कहा, 'हे भूदेव ! तुम्हारे प्रति सर्वदा ही मेरा स्नेह है । स्नेहके वश होकर ही मैं भक्तोंको दर्शन दिया करता हूँ । पुण्यात्मा पुरुषोंके एक बारके दर्शन, स्पर्श, ध्यान, कीर्तन और सम्भाषणसे ही पुण्य-लोककी प्राप्ति होती है । उनके

हुई अग्निमें कूद पड़ा, परन्तु आश्चर्य कि उसका एक बाल भी नहीं जला। देवतागण आकाशसे साधु-साधु कहने लगे। चारों ओरसे पुष्पवृष्टि होने लगी। जिन लोगोंने अद्रोहकपर दोष लगाया था, उनके मुखोंपर कुष्ठ रोग हो गया। देवताओंने आकर उसको अग्निसे निकाला। मुनियोंने विस्मित होकर सुन्दर पुष्पोंसे उसकी पूजा की। फिर महातेजस्वी अद्रोहकने भी उन सबकी पूजा की। सुर-असुर और मनुष्योंने मिलकर अद्रोहकका नाम सज्जनाद्रोहक रक्खा। उसकी चरण-रजसे पृथ्वी हरी-भरी हो गयी। तब देवताओंने राज-कुमारसे कहा कि 'तुम अपनी स्त्रीको ग्रहण करो, अद्रोहकके समान जगत्में दूसरा कोई नहीं है। जगत्में सभी लोग कामके वश हैं। काम, क्रोध, लोभ सभी प्राणियोंमें हैं, कामसे संसारमें बन्धन होता है, यह जानकर भी लोग अकामी नहीं होते। इस अद्रोहकने कर्तव्य-पालनके लिये कामको जीतकर मानो चौदह भुवनोंको जीत लिया है, इसके हृदयमें नित्य वासुदेव विराजमान हैं।' यों कहकर सब लोग और राजपुत्र अपनी पत्नीसहित अपने-अपने घर चले गये। उस समय अद्रोहकको कामजयके प्रतापसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी, वह तीनों लोकोंकी सभी बातोंको अनायास देखने और जाननेमें समर्थ हो गया।

इस प्रकार बातें होते-होते ही नरोत्तम ब्राह्मण अद्रोहकके घर आ पहुँचा। नरोत्तमने अद्रोहकसे धर्मका तत्त्व पूछा। अद्रोहकने कहा, 'हे धर्मज्ञ विप्र! आप पुरुषोत्तम वैष्णवके घर जाइये, उनके दर्शनसे ही आपकी मनोकामना पूर्ण हो जायगी। बगुलेकी मृत्यु और धोती सूखने आदिके सभी भेद वे आपको बता सकते हैं।' नरोत्तम यह सुनकर ब्राह्मण-वेष-धारी विष्णुके साथ पुरुषोत्तम वैष्णव-

के घर आया। नरोत्तमने देखा कि वैष्णव परम शुद्ध, शान्त, समस्त उत्तम लक्षणोंसे युक्त और अपने तेजसे देदीप्यमान हो रहे हैं। धर्मात्मा नरोत्तमने उस ध्यानस्थ भगवद्भक्तसे कहा, 'मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ, आप मुझे उपदेश कीजिये।' पुरुषोत्तम बोले, 'देवश्रेष्ठ भगवान् हरि सदा ही तुमपर प्रसन्न हैं, हे ब्राह्मण! आज तुम्हें देखकर मेरे मनमें बड़ा आह्लाद हो रहा है। मेरे घरमें भगवान्-के दर्शनसे तुम्हारा अतुलनीय कल्याण होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' नरोत्तमने कहा, 'आपके घरमें विष्णुभगवान् कहाँ विराजमान हैं, कृपाकर मुझे दिखला दें।' वैष्णवने कहा, 'इस रमणीय देव-मन्दिरमें प्रवेश करते ही तुम भगवान्के दर्शन कर घोर पाप और जन्म-कर्मके बन्धनोंसे छूट जाओगे।' वैष्णवके इन वचनोंको सुनकर नरोत्तमने मन्दिरमें प्रवेश करके देखा कि भगवान्की मूर्तिकी जगह वही ब्राह्मण-वेषधारी विष्णु उसी रूपमें पद्मासनसे बैठे हुए हैं। नरोत्तमने उनको देखते ही मस्तकद्वारा प्रणाम कर उनके चरण पकड़ लिये और कहा, 'हे देवेश! मैं आपको पहले पहचान न सका। अब आप मुझपर प्रसन्न होइये, हे प्रभो! मैं इस लोक और परलोकमें आपका दास बना रहूँ। हे मधुसूदन! मुझपर कृपादृष्टि कीजिये। यदि वास्तवमें आपकी मुझपर कृपा है तो अपने स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये।' भगवान्ने कहा, 'हे भूदेव! तुम्हारे प्रति सर्वदा ही मेरा स्नेह है। स्नेहके वश होकर ही मैं भक्तोंको दर्शन दिया करता हूँ। पुण्यात्मा पुरुषोंके एक बारके दर्शन, स्पर्श, ध्यान, कीर्तन और सम्भाषणसे ही पुण्य-लोककी प्राप्ति होती है। उनके

नित्य-सङ्गसे तो सारे पाप छूट जाते हैं और अन्तमें वह उनका सङ्ग करनेवाला मुझमें मिल जाता है। तुम मेरे भक्त हो, बक-वधसे तुम्हें जो पाप हुआ है उसकी निवृत्तिके लिये तुम फिर उसी मूकके पास जाओ। मूक चाण्डाल पुण्यात्माओंमें प्रधान तीर्थरूप है। उसके दर्शन और मेरे साथ सम्भाषण होनेके कारण ही तुम मेरे मन्दिरमें आ सके हो। जो करोड़ों जन्मोतक निष्पाप रहते हैं, वही धर्मात्मा पुरुष मेरा दर्शन करनेमे समर्थ हो सकते हैं, अतएव अब तुम अपना इच्छित वर माँगो!'

ब्राह्मणने कहा, 'हे सर्वलोकेश्वर! मैं यही चाहता हूँ कि मेरा मन सर्वथा आपमें लगा रहे, आपके सिवा और किन्हीं भी पदार्थोंमे मेरा प्रेम न हो।' भगवान्‌ने कहा, 'जब तुम्हारी बुद्धिका ऐसा विकास हो गया है, तब तुम्हारी इच्छा जरूर पूर्ण होगी, परन्तु तुम्हारे माता-पिता अबतक तुम्हारी सेवासे वञ्चित हैं। तुम अपने माता-पिताकी सेवा कर चुकनेके बाद मुझमे विलीन हो सकोगे। तुम्हारे माता-पिताके दुःखभरे लबे-लबे श्वासोंकी वायुसे तुम्हारा तप नष्ट होता रहता है। अतएव तुम पहले उनकी पूजा करो। जिस पुत्रपर माता-पिताका कोप पडता है उसको नरकगामी होनेसे मैं, शिव या ब्रह्मा—कोई नहीं बचा सकते। इसलिये तुम अपने माँ-बापके पास जाकर बडे यत्नसे उनकी पूजा करो, तदनन्तर उनके प्रसाद-से तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे।' भगवान्‌के ये वचन सुनकर ब्राह्मण-ने फिर हाथ जोड़कर कहा, 'हे नाथ! हे अच्युत! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो एक बार अपने दिव्यरूपका दर्शन कराइये।'

तदनन्तर प्रसन्नहृदय भगवान्‌ने प्रेमवश ब्राह्मणको अपने स्वरूपका दर्शन कराया। ब्राह्मणने देखा, 'पुरुषोत्तम हरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। उनके तेजसे समस्त जगत् परिपूर्ण हो रहा है, वे ही सम्पूर्ण लोकोंके कारण हैं।' उसने दण्डवत् प्रणाम करके गद्गदवाणीसे कहा, 'हे अच्युत! आज मेरा जन्म सफल हो गया। मेरे नेत्र प्रसन्न और दोनों हाथ श्लाघ्य हो गये। मैं आज धन्य हो गया। आज मेरे कुलके लोग सनातन ब्रह्मलोकको चले गये। मेरा समस्त मनोरथ आज पूर्ण हो गया। परन्तु नाथ! मेरा एक आश्चर्य अभी दूर नहीं हुआ है, मूकादि सज्जनोंने मेरा पूर्व वृत्तान्त क्योंकर जाना और आप सुन्दर विप्ररूप धरकर मूक, पतिव्रता, तुलाधार, अद्रोहक और इस वैष्णवके घरमें क्यों नित्य निवास करते हैं?'

भगवान्‌ने कहा, 'हे ब्राह्मण! मूक चाण्डाल सर्वदा अपने माता-पिताकी सेवामें रत है, शुभा नामकी स्त्री अनन्य पतिव्रता है, तुलाधार सत्यवादी और सर्वत्र समदर्शी है, अद्रोहक काम, लोभको जय कर चुका है तथा यह वैष्णव मेरा अनन्य भक्त है। इनके इन गुणोंसे प्रसन्न होकर ही मैं आनन्दपूर्वक इनके घर सदा लक्ष्मी और सरस्वतीसहित निवास करता हूँ और इन्हीं गुणोंके प्रतापसे यह लोग सब बातें जाननेमें समर्थ हैं।' यदि हमलोग भगवान्‌का अपने घरमें निवास चाहते हैं तो हमें भी ऐसा बनना चाहिये (यह आख्यायिका पद्मपुराणके आधारपर लिखी गयी है)।

स्वागतकी तैयारी करो

'मनमन्दिरमें मनमोहनको बुलाना चाहते हो तो पहले काम, तृष्णा, लोभ, क्रोध, वैर, हिंसा, अभिमान, आसक्ति, विषाद और मोहके दुर्गन्धभरे कूड़ेको कोने-कोनेसे झाड़-बुहारकर बाहर दूर फेंक दो और संयम, सन्तोष, दया, क्षमा, मैत्री, अहिंसा, नम्रता, वैराग्य, प्रसन्नता, विवेक, भक्ति और प्रेम आदि सुन्दर-सुन्दर फूलोंको चुन-चुनकर उनसे मन्दिरको भीतर-बाहर खूब सजा लो! जब सजावटमें कुछ भी कसर न रह जाय, तब उस प्यारेको ज़ोरसे पुकारो, तुरत उत्तर मिलेगा और उसकी मोहिनी रूप-छटासे तुम्हारा मनमन्दिर उसी क्षण जगमगा उठेगा।'

'सरकारी नौकर अपने अफसरके, सेवक मालिकके, प्रजा राजाके, जनता नेताके, शिष्य आचार्यके, बन्धु अपने माननीय बन्धुके और पत्नी अपने प्राणाधार पतिके स्वागतके लिये अपने-अपने भावोंके अनुसार कैसी-कैसी तैयारियाँ करते हैं। फिर जो यम, वायु, अग्नि आदि अफसरोंके भी अफसर, ब्रह्मा आदि मालिकोंके भी मालिक, नारद, सनत्कुमार आदि नेताओंके भी नेता, देवराज इन्द्र आदि सम्राटोंके भी सम्राट्, व्यास-वाल्मीकि आदि आचार्योंके भी आचार्य, बन्धुओंमें भी परम बान्धव और पतियोंके भी परमपति हैं। जिस एक ही सब गुणोंके अथाह सागरकी ये सब बूँदें हैं, उस सर्वगुणाधारके स्वागतके लिये भी तो कुछ तैयारी करनी चाहिये। तुम्हारी तैयारीका तभी पता चलेगा जब तुम्हारे मनमें और कुछ भी न रहकर केवल उसका मोहन मुखड़ा देखने और कोमल चरण-स्पर्श करनेकी ही एकमात्र तीव्र लालसा रह जायगी।'

मोक्ष-संन्यासिनी गोपियाँ

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितं
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥

—श्रीशङ्कराचार्य

'कुछ लोग प्रतिदिन सकामोपासना कर मनवाञ्छित फल चाहते हैं, दूसरे कुछ लोग यज्ञादिके द्वारा स्वर्गकी तथा (कर्म और ज्ञान) योग आदिके द्वारा मुक्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, परन्तु हमे तो यदुनन्दन श्रीकृष्णके चरणयुगलोंके ध्यानमे ही सावधानीके साथ लगे रहनेकी इच्छा है । हमें उत्तम लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्गसे और मोक्षसे क्या प्रयोजन है ?'

सच्चिदानन्दघन परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी वृन्दावनलीला अति मधुर है, आकर्षक है, अद्भुत है और अनिर्वचनीय है । वहाँ सभी कुछ विचित्र है, चराचर सभी प्राणी श्रीकृष्णप्रेममें निमग्न हैं, इनमे भी गोपी-प्रेम तो सर्वथा अलौकिक और अचिन्त्य है । वहाँ वाणीकी गति ही नहीं है, मन भी उस प्रेमकी कल्पना नहीं कर सकता । करे

भी कैसे, उसकी वहाँतक पहुँच ही नही है। मनुष्य प्रेमकी कितनी ही ऊँची-से-ऊँची कल्पना क्यों न करे, वह उस कल्पनातीत भगवत्-प्रेमके एक कणके बराबर भी नहीं है। उस गुणातीत अप्राकृत 'केवल प्रेम' की कल्पना गुणोंसे निर्मित प्राकृत मन कर ही कैसे सकता है? इस अवस्थामें सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णका सच्चिदानन्दमयी गोपिका-नाम-धारिणी अपनी ही छाया मूर्तियोसे जो दिव्य अप्राकृत प्रेम था, उसका वर्णन कौन कर सकता है? अबतक जितना वर्णन हुआ है, वह प्रायः अपनी-अपनी विभिन्न भावनाओंके अनुसार ही हुआ है। इस प्रेमका असली स्वरूप तो यत्किञ्चित् उसीकी समझमें आ सकता है जिसको प्रेमघन श्रीकृष्ण समझाना चाहते हैं पर जो उसे समझ लेता है, वह तत्क्षण गोपी बन जाता है, इसलिये वह फिर उसका वर्णन कर नहीं सकता। वास्तवमे वह वर्णनकी वस्तु भी नहीं है। वे दोनों एक दूसरेका रहस्य समझते है और मनमानी लीला करते हैं। गोपियोंके प्राण और श्रीकृष्णमे तथा श्रीकृष्णके प्राण और गोपियोंमे कोई अन्तर नही रह जाता,—वे परस्पर अपने आप ही अपनी छायाको देखकर विमुग्ध होते हैं और सबको मोहित करते है। श्रीकृष्ण और गोपी दो स्वरूपोंमे वस्तुतः एक ही तत्त्व है। कवि कहता है—

कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है।

भगवान् अपने इस तरहके भक्तके लिये कहते हैं कि वह तो मेरा आत्मा ही है '*आत्मैव मे मतम्*।' आत्मा क्या है, वह उससे भी अधिक प्यारा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथाभवान्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१५)

'हे उद्धव! मुझे ब्रह्मा, सङ्कर्षण, लक्ष्मी एवं अपना आत्मा भी उतने प्रिय नहीं हैं, जितने तुम-जैसे भक्त प्रिय है। क्योंकि मेरा ऐसा भक्त मुझमें ही सन्तुष्ट है। उसे मेरे सिवा और कुछ भी नहीं चाहिये'—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१४, १६)

इस प्रकारका मेरा प्रिय भक्त अपने आत्माको मुझमे अर्पित कर देता है, वह मुझको छोडकर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, चक्रवर्तीका पद, पाताल आदिका राज्य और योगकी सिद्धियाँ आदिकी तो बात ही क्या है, मोक्ष भी नहीं चाहता। ऐसे मोक्ष-सन्यासी भक्तोंको जो सुख मिलता है, उसे वही जानते है। ऐसे इच्छारहित, मद्गतचित्त, शान्त, निर्वैर और समदर्शी भक्तोंकी चरण-रजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि उद्धवजीको यह दुर्लभ पद गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करनेके बाद ही मिला था। जब उद्धवको

भगवान् ऐसा कहते हैं फिर गोपियोंका तो कहना ही क्या ? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमे जो कुछ भी ऊँची-से-ऊँची स्थिति अनुभवमें आती है, वही आगे चलकर बहुत नीची मालूम होने लगती है।

जो भगवद्गीता आज ससारका सर्वमान्य ग्रन्थ है, भगवान्‌की दिव्य वाणीमें परमोपयोगी उपदेश होनेके कारण जो सबका पूज्य है, उसमें जो कुछ करनेके लिये कहा गया है, गोपियोंके जीवनमें वे सब बातें स्वाभाविक वर्तमान थीं।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रिय सखा भक्त अर्जुनको जो परम रहस्यमय सार उपदेश दिया है कि—

'जो सर्वत्र मुझको व्यापक देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता, और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।' [गीता ६ । ३०] '(मेरे) दृढ़निश्चयी भक्त निरन्तर मेरे नाम-गुणका कीर्तन करते हुए मेरे ही लिये चेष्टा करते हुए तथा बारबार मुझको ही प्रणाम करते हुए, नित्य मुझमें मन लगाकर अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करते हैं।' [गीता ९ । १४] 'वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले, मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले मेरे भक्त परस्पर मेरी ही चर्चा करते हैं, मेरी ही लीला गा-गाकर सन्तुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं, इस प्रकार प्रेमपूर्वक नित्ययुक्त होकर मुझे भजनेवाले भक्तोंको अपनी ईश्वरीय बुद्धिका योग मैं करा देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' [गीता १० । ९-१०]

इसके बाद गीताका परम तत्त्व परम गोप्य रहस्य बतलाते हुए भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६५-६६)

'तू केवल मुझमें ही मन अर्पण कर दे, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझको ही नमस्कार कर, फिर तू मुझको ही प्राप्त होगा,' यह मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तू मेरा अति प्रिय सखा है। सब धर्मोंको छोडकर तू केवल एक मेरे ही शरण हो जा, मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

गोपियोंके आचरणोंमें ये सारी बातें ओतप्रोत ही नहीं, बल्कि बढ़ी हुई थीं। कारण, उपदेशमें उतनी बातें आ ही नहीं सकतीं जितनी आचरणमें आती हैं। फिर अर्जुनको तो ऐसा बननेके लिये उपदेश दिया जा रहा था, परन्तु गोपियाँ भगवान्‌की बनी-बनायी भक्त थीं। भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे उनकी बड़ाई करते हुए कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥
सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने अङ्गोंकी सम्हाल इसलिये करती हैं कि उनसे मेरी सेवा होती है, गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ प्रेमपात्र

और कोई नहीं है। वे मेरी सहायिका हैं, गुरु हैं, शिष्या है, दासी है, बन्धु हैं, प्रेयसी हैं, कुछ भी कहो, सभी है। मै सच कहता हूँ कि गोपियाँ मेरी क्या नहीं हैं! हे पार्थ! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनोरथको तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं और कोई नही जानता ।'

गोपियोंके मनमे इहलोक और परलोकके किसी भी भोगकी कामना नही थी, इन्द्रियका कोई विषय उनके मनको आकर्षित नहीं कर सकता था, उन्होंने अपने मनोंको श्रीकृष्णके मनमे और अपने प्राणोंको श्रीकृष्णके प्राणोंमे विलीन कर दिया था। वे इसीलिये जीवन धारण करती थीं कि श्रीकृष्ण वैसा चाहते थे। उनका जीवन-मरण, लोक-परलोक सब श्रीकृष्णकी इच्छाके अधीन था, उन्होंने अपनी सारी इच्छाओंको श्रीकृष्णकी इच्छामे मिला दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण-ने एक दिन एकान्तमें प्यारे उद्धवजीसे कहा—

> ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
> ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥
> मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
> स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥
> धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
> प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।४६।४—६)

'हे उद्धव! गोपियोंने अपने मन और प्राण मेरे अर्पण कर दिये है, मेरे लिये अपने सारे शारीरिक सम्बन्धियोंको और लोकसुखके

साधनोंको त्याग कर वे मुझमें ही अनुरक्त हो रही हैं, मैं ही उनके सुख और जीवनका कारण हूँ, गोकुलकी उन स्त्रियोंको मैं प्रिय-से-प्रिय हूँ, मेरे दूर रहनेके कारण वे मेरा स्मरण करती हुई मेरे विरहमें अत्यन्त ही विह्वल और विमोहित हो रही हैं। मेरे शीघ्र गोकुल लौटनेके सन्देशके भरोसे ही अपने आत्माको मुझमें समर्पण कर देनेवाली वे गोपियाँ बड़ी कठिनतासे किसी प्रकार जीवन धारण कर रही हैं।'

गोपियोंका हृदय श्रीकृष्णमय हो गया था, वे खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते, घरका काम-काज करते, सब समय एक श्रीकृष्ण-को ही देखती और उन्हींके गुणोंका स्मरण कर-करके आँसू बहाया करती थीं। भागवतमें कहा है—

> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
> प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
>
> (१० । ४४ । १५)

'जो गोपियाँ गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू देते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है!'

यह गोपी-प्रेम बड़ा ही पवित्र है, इसमें अपना सर्वस्व प्रियतमके चरणोंमें न्योछावर कर देना पड़ता है। मोक्षकी इच्छा और नरकका

भय—दोनोंसे ही मुख मोड़ लेना पड़ता है। प्रियतम श्रीकृष्णका प्रिय कार्य करना ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। दूसरेके द्वारा मुझे सुख मिले, मेरी इन्द्रियोंकी और मनकी तृप्ति हो, इसका नाम 'काम' है, चाहे वह भाव भगवान्‌के प्रति ही क्यों न हो और 'मेरे द्वारा मेरा प्रियतम सुखी हो, इसीमें मैं सुखी होऊँ', इसका नाम 'प्रेम' है; काम भोगके लिये और प्रेम परमात्माके लिये हुआ करता है। विषयानुराग ही काम है और भगवदनुराग ही प्रेम है। यह प्रेम बढ़ते-बढ़ते जब प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्‌का प्रतिबिम्ब बना देता है तभी प्रेम पूर्णताके समीप पहुँचता है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए कहा है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, कर्म।
लज्जा, धैर्य, देह-सुख, आत्म-सुख मर्म॥
सर्वत्याग करये, करे कृष्णेर भजन।
कृष्ण-सुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर।
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥

प्रेमीको तो प्रेमास्पद भगवान्‌के इङ्गितानुसार लोकधर्म, वेद-धर्म, देहधर्म और सारे कर्म तथा लज्जा, धैर्य, शरीर-सुख, आत्मसुख आदि सबका त्याग कर देना पड़ता है। जो लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णप्रेममें त्याग और वैराग्यकी आवश्यकता नहीं, वे बहुत ही

भूलते हैं। श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्तिका आधार तो श्रीकृष्णार्थ सर्वस्व-त्याग ही है—तभी श्रीकृष्णरूप परमशान्ति प्राप्त होती है—'*त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।*' (गीता १२। १२)

जबतक विषयोंमें मन रहता है तबतक तो भगवान्‌का प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन ही नहीं हो सकता, फिर समर्पणकी तो बात ही कहाँ है ? यह भ्रम है कि लोग विषयासक्त चित्तसे विषयोंका सेवन करते हुए अपनेको भगवान्‌का प्रेमी और गोपीप्रेमके कहने-सुनने और तदनुसार आचरण करनेका अधिकारी मान बैठते हैं, इसीमें उनका पतन होता है। परमवैराग्यवती श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीगोपियोंके सम्बन्धमें श्रीचैतन्य-चरितामृतमें कहा है—

> **निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य।**
> **कृष्ण-सुखेर तात्पर्य गोपीभाव वर्य॥**
> **निजेन्द्रिय-सुखवाञ्छा नहे गोपीकार।**
> **कृष्ण-सुख-हेतु करे संगम विहार॥**
> **आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार।**
> **कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥**
> **कृष्ण विना आर सब करि परित्याग।**
> **कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग॥**

श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। ऊपर कहा गया है कि श्रीकृष्णप्रेमी नरकके भयकी भी परवा न कर प्रियतम भगवान्‌का प्रिय कार्य करता है। इससे कोई यह न समझे कि 'वह ऐसा दुष्कर्म भी करता है जिससे उसको नरकका भागी

होना पडे ।' बात यह है कि वह मोक्ष-भोग या स्वर्ग-नरककी बातको स्मरण ही नहीं करता. वह तो श्रीकृष्णगतचित्त रहता है। उसके मन, प्राण और बुद्धि तो श्रीकृष्णमे तल्लीन हो जाते हैं। ऐसे भक्तसे किसी भी दुष्कर्मकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है? श्रीभगवान्‌से पाप या दुष्कर्म हो तो उससे भी हों; क्योंकि उसने तो सारी विषयासक्तिको छोडकर अपने मनको भगवान्‌का मन बना दिया है। इस दशामें भगवान्‌के मनमे आसक्तिवश पापका भाव आवे तो उसके भी आवे। भगवान्‌के द्वारा पाप-पुण्य होते नही, इसलिये भक्त भी पाप-पुण्यसे अलग ही रहता है।

अमृत चाहे विषका काम कर दे, शीतल जल चाहे जगत्‌को भस्म कर दे, परन्तु श्रीकृष्णप्रेमी भक्तसे दुष्ट कर्म कदापि नहीं हो सकता। अतएव गोपियोंके कार्योंमें पाप देखना हमारे चित्तकी पापमयी वृत्तिका ही फल है। थोड़ी दूरपर बातें करते हुए जवान बहिन-भाईकी निर्दोष हँसी और बातचीतमें भी कामीको कामके दर्शन होते है। इसी प्रकार हम भी गोपीप्रेममे काम देखते हैं। वास्तवमे वहाँ तो काम था नहीं, गोपीप्रेमके सच्चे अनुयायियोंमे भी काम-गन्धका नाश हो जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वहाँ तो केवल कृष्ण-ही-कृष्ण रह जाते हैं। उनके मन या नेत्रोंके सामने दूसरी चीज़ न तो ठहरती है और न आती ही है। कविने क्या सुन्दर कहा है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रग रँगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥

ठाकुर चित्तकी वृत्ति यही हम कैसेहु टेक तजें नहिं भोरो।
वावरी वे अँखियाँ जरि जायँ सो साँवरो छाड़ि निहारति गोरो॥

उन्हें त्रिभुवन श्याममय दीखता है। उनकी सारी इन्द्रियाँ केवल श्रीकृष्णको ही विषय करती हैं।

भगवान्‌के आदेशसे उद्धवजी व्रजमें आकर गोपियोंको समझाने लगे। उन्होंने अनेक उपदेश दिये, परन्तु गोपिकाओंके प्रेमको देखकर उनकी सारी ज्ञानगरिमा गल गयी। वे प्रेमके निर्मल प्रवाहमें बह गये।

गोपियोंने कहा—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधो हमें स्यामहीसों काम है।
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम विनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्यामनाम है॥
स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आये दौरे,
जोग कहाँ राखें, यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

अरे, यहाँ तो श्यामके सिवा और कुछ है ही नहीं, सारा हृदय तो उससे भरा है, रोम-रोममे तो वह छाया है। सोते-बैठते कभी साथ तो छोड़ता ही नहीं, फिर बताओ तुम्हारे ज्ञान और योगको रक्खें कहाँ?—

नाहिंन रह्यो हियमें ठौर।
नदनंदन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदयते वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात॥

उद्धव हूँ वे अपनेको रोकनेमें असमर्थ पाकर मथुरा लौटे। मथुरामें उन्हें सामने देखते ही अपना आपा भूल गये, वे गद्गद कण्ठ हो गये और गोपिकाओंके वचन सुनाने लगे—

ऊधो मधुबनि पै गये किये गोपको भेस।
भूले मधुबनि नाम कह्यो 'गोपाल गुसाईं!
एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई॥

उद्धव कहते हैं—'हे गोपाल, हे गोविन्द! एक बार चलो न ब्रजमें। तुम प्रेमियोंको छोड़कर यहाँ इस राज-सुख मथुरामें कहाँ आ बसे?

बृंदावन सुख छाँड़िकै, कहाँ बसे हो आय?
प्रेमसिंधु हरि जानिकै ऊधो पकरे पाय॥
सुमिरत ब्रजको प्रेम, नेम कछु नाहिन भावै।
उमग्यो नैनन नीर बात कछु कहत न आवै॥

उद्धव भगवान्‌के पैर पकड़कर फूटकर रोने लगे। भगवान् भी प्रेमविह्वल हो उनपर गिर पड़े और फिर अपने पीताम्बरसे आँसू पोंछते हुए बोले—'बस, तुम तो यह योग सिखाकर आये उद्धव!'

सूर स्याम भूतल गिरे रहे नैन जल छाइ।
पोंछि पीत-पटसों, कह्यो—'भले आये जोग सिखाइ'॥

भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! देखा, तुमने गोपिकाओंका निर्मल विशुद्ध, अहैतुक और अनन्य प्रेम! इसीलिये मैं उन्हें क्षणभर नहीं भूल सकता।' धन्य! इसी प्रसंगपर ब्रज-रस-रसिक श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात॥

तुम्हीं बताओ, क्या किया जाय! वह तो हृदयमें गड़ गया है और रोम-रोममें ऐसा अड़ गया है कि किसी तरह निकल ही नहीं सकता; भीतर भी वही और बाहर भी सर्वत्र वही!

उरमें माखनचोर गड़े।
अब कैसे निकसें वे ऊधो तिरछे आन अड़े॥

उद्धव चकित हो गये। सबसे अधिक आश्चर्य तो उन्हें तब हुआ जब गोपी-कृपासे उन्होंने श्रीगोपीनाथको गोपियोंके बीच सर्वत्र अपनी आँखोंके सामने देखा।

महात्मा सूरदासजी कहते हैं—

लखि गोपिनको प्रेम नेम ऊधोको भूल्यो।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमें फूल्यो॥
खिन गोपिनके पग परै धन्य तुम्हारो नेम।
धाइ-धाइ द्रुम भेंटहीं ऊधो छाके प्रेम॥

उद्धवजीकी विचित्र दशा हो गयी, आये थे ज्ञान देकर उनका विरहानल बुझाने—गुरु बनकर उन्हें योगकी दीक्षा देने, पर अब तो चेले बनकर पुकार उठे—

उपदेसन आयो हुतो, मोहि भयो उपदेस।

चेला बनते ही उन्होंने मथुराका राजवेष त्याग कर गोपी-पद-पङ्कज-पराग गोपका वेष धारण कर लिया और उसी वेषमें वे भगवान्‌के पास पहुँचे, इस समय उन्हें यह होश नहीं था कि मैं यदुवंशी

उद्धव हूँ, वे अपनेको गोपियोंके चरणोंका चाकर समझते थे, जगत्‌को भी इसी रूपमें देखते थे, अतएव भगवान् श्रीकृष्णको भी वे यदुनाथ कहना भूल गये और गोपीनाथके नामसे ही पुकारने लगे—

ऊधो जदुपति पै गये, किये गोपको भेस ॥
भूले जदुपति नाम, कह्यो 'गोपाल गुसाँई!'
एक बार व्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई ॥

उद्धव कहने लगे—हे गोपाल, हे गोपीनाथ! एक बार चलो न व्रजको? उस प्रेमलोकको छोडकर यहाँ इस रूखी-सूखी मथुरामें कहाँ आ बसे?

वृंदावन सुख छाड़िकै, कहाँ बसे हो आय?
प्रेमसिंधु हरि जानिकै ऊधो पकरे पाय ॥
सुमिरत व्रजको प्रेम, नेम कछु नाहिन भावे।
उमग्यो नैनन नीर बात कछु कहत न आवे ॥

उद्धव भगवान्‌के पैर पकडकर फुफकार मारकर रोने लगे, भगवान् भी प्रेमविह्वल हो जमीनपर गिर पडे और फिर अपने पीताम्बरसे आँसू पोंछते हुए बोले—'वाह, तुम तो खूब योग सिखाकर आये उद्धव!'

सूर स्याम भूतल गिरे रहे नैन जल छाइ।
पोंछि पीत-पटसों, कह्यो—'भल आये जोग सिखाइ' ॥

भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! देखा, तुमने गोपबालाओंका निर्मल विशुद्ध, अहैतुक और अनन्यप्रेम! इसीलिये मैं उन्हें क्षणभर नहीं भूल सकता!' धन्य! इसी प्रसङ्गमें व्रज-रस-रसीले श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

उद्धवजीने कहा—

करुनामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जबहीलौं नहिं लख्यो तबहिलौं बाँधी मूठी॥
मैं जान्यो ब्रज जायके तुम्हरो निरदय रूप।
जो तुमको अवलंबहीं वाको मेलो कूप॥
कौन यह धर्म है ?

पुनि-पुनि कहै, अहो चलौ जाय वृंदाबन रहिये।
प्रेम-पुंजको प्रेम जाय गोपिन सँग लहिये॥
और काम सब छाड़िकै उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यो जात है अब ही नेह-सनेहु॥
करोगे फिर कहा ?

उद्धवजीके शब्द सुनकर भगवान्‌की क्या दशा हुई ? सुनिये श्रीनन्ददासजीके ही मुखारविन्दसे—

सुनत सखाके बैन नैन भरि आये दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाही सुधि कोऊ॥
रोम-रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि साँवर गात।
कलप-सरोरुह साँवरो, ब्रजबनिता भई पात॥
उरझि अँग-अंग ते।

फिर किसी तरह सचेत होकर भगवान्‌ने कहा—

हो सचेत कहि भलो सखा पठयो सुधि लावन।
अवगुन हमरे आनि तहाँते लगे बतावन॥
मोमें तिनमें अंतरो एकौ छिन भर नाहिं।
ज्यों देखी मो माहिं ते, त्यों मैं तिनहीं माहिं॥
तरंगन वारि ज्यों।

इसके बाद भगवान्‌ने अपना गोपीरूप दिखलाकर उद्धवका भ्रम दूर किया—

गोपीरूप दिखाइ तबै मोहन बनवारी।
ऊधो भ्रमहि निवारि डारि मुख मोहकी जारी॥
अपनो रूप दिखाइकै लीन्हों बहुरि दुराय।
नन्ददास पावन भयो जो यह लीला गाय॥

प्रेमरस-पुजनी।

यह तो शब्दोंमे किया जा सकनेवाला वर्णन है। वास्तविक गोपीप्रेम तो इससे बहुत ऊँचा है। कुछ महानुभावोंकी धारणा है कि गोपियोंका भगवान्‌के प्रति वही प्रेम था जो कान्ता—स्त्रीका अपने स्वामीके प्रति होता है। कुछ सज्जन कहते हैं कि यह बात नहीं है, जैसा परकीया—परायी स्त्रीका प्रेम अपने जारके प्रति होता है वैसा प्रेम गोपियोंका था। मेरी समझसे ये दोनों ही उदाहरण गोपीप्रेमके लिये पूरे लागू नहीं होते। यह सत्य है कि कान्ताभावमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यका समावेश हो जाता है। पतिव्रता स्त्री अपना नाम, गोत्र, जीवन, धन-धर्म सभी कुछ पतिके अर्पणकर प्रत्येक चेष्टा पतिके लिये ही करती है और पतिके सम्बन्धियोंकी सेवामे शान्तभाव, पतिकी सेवामे दास्यभाव, पतिके साथ परामर्श करनेमे सख्यभाव और भोजनादि करानेमे वात्सल्यभाव रखती है तथा अपना शरीर और मन सब भाँति निःसकोचरूपसे पतिके अर्पण कर देती है, परन्तु भगवान्‌के प्रति गोपियोंके समान केवल प्रेममूर्ति शुद्ध भागवत जीवोंका जो प्रेम होता है वह तो कुछ विलक्षण ही होता है। ऐसे ही परकीयाका भाव भी सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है। परकीयाके प्रेमकी इतनी ही बात

गोपी-प्रेम

कहा 'रसखान' सुख-सपति सुमार महँ,
कहा महाजोगी ह्वै लगाए अंग छारको।
कहा साधे पंचानल, कहा सोए बीच जल,
कहा जीत लीन्हें राज सिंधु वारापारको॥
जप वार-बार, तप-संजम, अपार व्रत,
तीरथ हजार अरे! बूझत लबार को?
सोइ है गवाँर जिहि कीन्हों नाहिं प्यार, नाहिं
सेयो दरबार यार नदके कुमारको॥
कंचनके मदिरन दीठि ठहरात नायँ,
सदा दीपमाल लाल रतन उजारेसों।
और प्रभुताई सब कहाँ लौं बखानौं, प्रति-
हारिनकी भीर भूप टरत न द्वारेसों॥
गंगाजूमें न्हाय मुकताहल लुटाय, वेद—
बीस बार गाय ध्यान कीजे सकारेसों।
ऐसे ही भये तौ कहा कीन्हों 'रसखान' जुपै,
चित्त दै न कीन्ही प्रीति पीत पटवारेसों॥

'गोपी-प्रेम' पर कुछ भी लिखना वस्तुतः मुझ-सरीखे मनुष्यके लिये अनधिकार चर्चा है। गोपी-प्रेमका तत्त्व वही प्रेमी भक्त कुछ जान सकता है जिसको भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाजी और आनन्द तथा प्रेमके दिव्य समुद्र भगवान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण स्वयं कृपापूर्वक जना दें। जाननेवाला भी उसे कह या लिख नहीं सकता, क्योंकि 'गोपी-प्रेम' का प्रकाश करनेवाली भगवान्‌की वृन्दावनलीला सर्वथा अनिर्वचनीय है। वह कल्पनातीत, अलौकिक और अप्राकृत है। समस्त व्रजवासी भगवान्‌के मायामुक्त परिकर हैं और भगवान्‌की निज आनन्दशक्ति, योगमाया श्रीराधिकाजीकी अध्यक्षतामें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुरलीलामें योग देनेके लिये व्रजमें प्रकट हुए हैं। व्रजमें प्रकट इन महात्माओंकी चरण-रजकी चाह करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्वयं कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०, ३२, ३४)

'हे प्रभो ! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं इस जन्ममें अथवा किसी तिर्यक् योनिमें ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक होऊँ, जिससे आपके चरणकमलोंकी सेवा कर सकूँ । अहो ! नन्दादि व्रजवासी धन्य हैं, इनके धन्य भाग्य हैं, जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म स्वयं आप हैं । इस धरातलपर व्रजमें और उसमें भी गोकुलमें किसी कीडे-मकोडेकी योनि पाना ही परम सौभाग्य है जिससे कभी किसी व्रजवासीकी चरण-रजसे मस्तकको अभिषिक्त होनेका सौभाग्य मिले ।'

जिन व्रजवासियोंकी चरण-धूलिको ब्रह्मा चाहते हैं, उनका कितना बडा महत्त्व है ! ये व्रजवासीगण मुक्तिके अधिकारको ठुकराकर उससे बहुत आगे बढ़ गये हैं । इस बातको स्वयं ब्रह्माजीने कहा है कि 'भगवन् ! मुक्ति तो कुचोंमें विष लगाकर मारनेको आनेवाली पूतनाको ही आपने दे दी । इन प्रेमियोंको क्या वही देंगे——इनका तो आपको ऋणी बनकर ही रहना होगा ।' और भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे यह स्वीकार भी किया है । आप गोपियोंसे कहते हैं–

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

'हे प्रियाओ ! तुमने घरकी बड़ी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारे इस साधुकार्यका मैं देवताओंके समान आयुमें भी

बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे उऋण करना।'

महात्मा नन्ददासजीकी रचनामें भगवान् कहते हैं--

तब बोले व्रजराज-कुँवर हौं रिनी तुम्हारो।
अपने मनते दूरि करौ किन दोष हमारो॥
कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रति उपकार करौं जो।
हे मनहरनी तरुनी, उरिनी नाहिं तबौ तौ॥
सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहि मोहति है॥
तुम जु करी सो कोउ न करै सुनि नवल किसोरी।
लोक-बेदकी सुदृढ़ सृंखला तृन-सम तोरी॥

सारे संसारके देव, मनुष्य, गन्धर्व, असुर आदि जीवोंको कर्मोंकी बेडीसे निरन्तर बाँधे रखनेवाले सच्चिदानन्द, जगन्नियन्ता प्रभु गोपी यशोदाके द्वारा ऊखलसे बँध जाते हैं। सारे जगतको मायाके खेलमें सदा रमानेवाले मायापति हरि गोपबालकोंसे खेलमें हारकर स्वय घोडे बनकर उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाते है! उन व्रजवासी नर-नारियोंको धन्य है! एक दिनकी बात है—यशोदाजी घरके आवश्यक काममे लग रही थीं, बालकृष्ण मचल गये और बोले, मैं गोद चढ़ूँगा। माताने कुछ ध्यान नहीं दिया। इसपर खीझकर आप लगे रोने और ऑगनमे लोटने। इतनेहीमे देवर्षि नारद भगवान्की बाल-लीलाओंको देखनेकी लालसासे वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा, सचराचर विश्वके स्वामी परम आनन्दमय भगवान् माताकी गोद चढनेके लिये जमीनपर

किंनरी वहुर अरु बहुर गंधरवनी,
पंनगनी चितवन नाँहिं माँझ पावें ॥
देत करताल वे लाल गोपालसों,
पकर ब्रजबाल कपि ज्यों नचावें ॥ २ ॥
× × × ×
बैन कहि लौने पुनि चाहि रहत वदन हँसि,
स्वभुज बीच ले ले कलोलें ॥
धामके काम ब्रजबाम सब भूल रहीं,
कान्ह बलरामके संग डोलें ॥ ७ ॥
सूर गिरधरन मधु चरितमधु पानके,
और अमरित कछु आन लागे ॥
और सुख रंककी कौन इच्छा करे,
मुक्तिहू लौनसी खारी लागे ॥ ८ ॥

गोपियोंकी चरण-रज पानेके लिये व्रजमें लतागुल्मौषधि बननेके इच्छुक और गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके गोपीभावको प्राप्त हुए भक्त उद्धवसे स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५)

'हे उद्धव ! मुझे ब्रह्मा, सङ्कर्षण, लक्ष्मी और अपना आत्मा—ये भी उतने प्रियतम नहीं हैं जितने तुझ-जैसे भक्त प्रियतम हैं ।'

इससे गोपियोंके महत्त्वकी किञ्चित् कल्पना हुई होगी । भगवान्‌की ऐसी प्रियतमा गोपियोंके प्रेमका वर्णन मुझ-जैसा मनुष्य कैसे कर सकता है ? परम वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर कहीं प्रेमका अधिकार

मिलता है और उस दिव्य प्रेम-राज्यमें प्रवेश कर चुकनेवाले महात्माओं-के प्रसादसे ही दुर्गम प्रेमपथपर अग्रसर होकर भक्त उस प्रेमामृतका कुछ आस्वाद प्राप्त कर सकता है। यह साधनसापेक्ष है। केवल अध्ययन या ग्रन्थ-पाठसे वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती। तथापि भगवत्कृपासे इधर-उधरसे जो कुछ बातें मालूम हुई हैं उन्हींका कुछ थोड़ा-सा भाव संक्षेपमें लिखनेकी चेष्टा यहाँ की जाती है। भाग्यवान् पूज्यपाद प्रेमीजन कृपापूर्वक अपराध और धृष्टता क्षमा करेंगे।

प्रेमका स्वरूप

गोपी-प्रेमका रहस्य जाननेसे पहले प्रेमतत्त्वपर कुछ विचार करना आवश्यक है। प्रेम वस्तुत: वाणीकी वस्तु नहीं है, जिसका वर्णन वाणीसे हो सकता है, वह तो प्रेमका अत्यन्त स्थूल बाहरी स्वरूप है। प्रेम हृदयमें रहता है और प्रेमीको प्रेममय बना डालता है।

भगवान् श्रीरामने श्रीजानकीजीके पास यह प्रेमसन्देश भेजा था—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

'तुम्हारे और मेरे प्रेमका तत्त्व केवल एक मेरा मन जानता है और वह मन सदा तेरे पास रहता है।' प्रेममें स्वार्थके लिये जरा-सी भी जगह नहीं है। जहाँ कुछ भी पानेकी वासना है वहाँ प्रेमके पवित्र आसनको काम कलङ्कित कर रहा है। प्रेममें देना-ही-देना है, लेने या पानेकी कल्पना भी नहीं है। प्रेम सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेमी कभी यह मान ही नहीं सकता कि मुझमें पूरा प्रेम है।

किंनरी वहुर अरु वहुर गंधरवनी,
पंनगनी चितवन नहिं माँझ पावें ॥
देत करताल वे लाल गोपालसों,
पकर व्रजबाल कपि ज्यों नचावें ॥ २ ॥

× × × ×

बैन कहि लौने पुनि चाहि रहत वदन हँसि,
स्वभुज बीच ले ले कलोलें ॥
धामके काम ब्रजवाम सब भूल रहीं,
कान्ह बलरामके संग डोलें ॥ ७ ॥
सूर गिरधरन मधु चरितमधु पानके,
और अमरित कछु आन लागे ॥
और सुख रंककी कौन इच्छा करे,
मुक्तिहू लौनसी खारी लागे ॥ ८ ॥

गोपियोंकी चरण-रज पानेके लिये व्रजमें लतागुल्मौषधि बननेके इच्छुक और गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके गोपीभावको प्राप्त हुए भक्त उद्धवसे स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५)

'हे उद्धव ! मुझे ब्रह्मा, सङ्कर्षण, लक्ष्मी और अपना आत्मा—ये भी उतने प्रियतम नहीं हैं जितने तुझ-जैसे भक्त प्रियतम हैं ।'

इससे गोपियोंके महत्त्वकी किञ्चित् कल्पना हुई होगी । भगवान्‌की ऐसी प्रियतमा गोपियोंके प्रेमका वर्णन मुझ-जैसा मनुष्य कैसे कर सकता है ? परम वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर कहीं प्रेमका अधिकार

मिलता है और उस दिव्य प्रेम-राज्यमें प्रवेश कर चुकनेवाले महात्माओं-के प्रसादसे ही दुर्गम प्रेमपथपर अग्रसर होकर भक्त उस प्रेमानन्दका कुछ आस्वाद प्राप्त कर सकता है। यह साधनसापेक्ष है। केवल अध्ययन या ग्रन्थ-पाठसे वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती। तथापि भगवत्कृपासे इधर-उधरसे जो कुछ बातें मालूम हुई हैं उन्हींका कुछ थोड़ा-सा भाव संक्षेपमें लिखनेकी चेष्टा यहाँ की जाती है। भगवान् पूज्यपाद प्रेमीजन कृपापूर्वक अपराध और धृष्टता क्षमा करेंगे।

प्रेमका स्वरूप

गोपी-प्रेमका रहस्य जाननेसे पहले प्रेमतत्त्वपर कुछ विचार करना आवश्यक है। प्रेम वस्तुतः वाणीकी वस्तु नहीं है, जिसका वर्णन वाणीसे हो सकता है, वह तो प्रेमका अत्यन्त स्थूल बाहरी स्वरूप है। प्रेम हृदयमें रहता है और प्रेमीको प्रेममय बना डालता है।

भगवान् श्रीरामने श्रीजानकीजीके पास यह प्रेमसन्देश भेजा था—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

'तुम्हारे और मेरे प्रेमका तत्त्व केवल एक मेरा मन जानता है और वह मन सदा तेरे पास रहता है।' प्रेममें स्वार्थके लिये जरा-सी भी जगह नहीं है। जहाँ कुछ भी पानेकी वासना है वहाँ प्रेमके पवित्र आसनको काम कलङ्कित कर रहा है। प्रेममें देना-ही-देना है, लेने या पानेकी कल्पना भी नहीं है। प्रेम सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेमी कभी यह मान ही नहीं सकता कि मुझमें पूरा प्रेम है।

वह सदा अपनेमे त्रुटि ही देखा करता है और अनन्यभावसे प्रेमास्पदके प्रति सदा हृदयको आकृष्ट रखता है। गुण देखकर अथवा किसी आशासे जो प्रेम होता है वह गुणोका ह्रास देखते ही अथवा आशाभङ्गकी आशङ्का होते ही घट जाता है या नष्ट हो जाता है। वह वास्तवमे प्रेम नहीं है। वहाँ काम ही प्रेमके नामपर राज्य कर रहा है।

छिनहि चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

अन्यत्र कहा गया है—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

'ध्वसका कारण वर्तमान होनेपर भी जो सर्वथा ध्वंसरहित है, इस प्रकारके परस्परके भावको प्रेम कहते हैं।' अर्थात् प्रेमास्पदका धन नष्ट हो गया, रूप जाता रहा, उसके सद्गुण दुर्गुणोंमें परिणत हो गये, उसने आदर-सत्कार या प्रेम करना छोड़ दिया, वह पद-पदपर तिरस्कार करता है, हमारा अपमान करके हमारे ही सामने दूसरेको आदर देता है, उसमें हजारों दोषोका उदय हो गया है, ऐसी अवस्थामें प्रेम नष्ट होना ही चाहिये। संसारमे ऐसी अवस्था हो ही जाती है; परन्तु इस स्थितिमें जो प्रेम कभी घटता नहीं, बल्कि दिनोंदिन बढ़ता ही रहता है, उसीका नाम यथार्थ प्रेम है।

रसखानि कहते हैं—

विनु जोवन गुन रूप धन, विनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध, कामनाते रहित, प्रेम सकल 'रसखानि'॥

अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरो, अति दूर।
प्रेम कठिन सबते सदा, नित इकरस भरपूर॥
रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल महान।
सदा एकरस बढ़त नित, सुद्ध प्रेम 'रसखान'॥

प्रेमकी बाढ़ कभी रुकती ही नहीं—इस चन्द्रकलाके लिये कभी पूर्णिमा नहीं होती।

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यौं ससिकला सुबेष।
पै पूनौं यामें नहीं, तातें कबहुँ न सेष॥

और ऐसा प्रेम वस्तुतः केवल भगवान्में उनके प्रेमी भक्तका ही हो सकता है। देवर्षि नारदजी ऐसे प्रेमका लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्। प्रकाश्यते क्वापि पात्रे। गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति॥ (नारदभक्तिसूत्र ५१—५५)

अर्थात् 'प्रेमके स्वरूपका उसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता, जैसे गूँगा स्वादका वर्णन नहीं कर सकता। ऐसा प्रेम किसी विरले भाग्यवान् अधिकारी (परम विषय-विरागी भगवदनुरागी) भक्तमें ही प्रकट होता है। यह प्रेम गुणोंसे रहित है, इसमें कामनाकी गन्ध नहीं है, यह हर क्षण बढ़ता ही रहता है, इसका प्रवाह सदा अटूट रहता है, यह अति सूक्ष्म है, केवल अनुभवसे जाना जा सकता है। इस प्रेमको पाकर भक्त केवल प्रेमको ही देखता है,

प्रेमसे ही सुनता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।' वहाँ प्रेम और प्रेमास्पदमें कोई अन्तर नहीं रह जाता; क्योंकि—

प्रेम हरीको रूप है, त्यों हरि प्रेमसरूप।
एक होइ द्वै यों लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

इसी प्रेमभावको प्राप्त गोपियोंकी दशाका वर्णन करते हुए भक्त कविगण क्या कहते हैं, कुछ नमूने देखिये—

(१)

जित देखौं तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगनहीकी स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रविसार स्याम है, मृगमद स्याम काम विजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याममई है॥

(२)

कानन दूसरो नाम सुनै नहि, एकहि रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥
ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै हम कैसेहु टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाडि निहारति गोरो॥

(३)

पहले ही जाय मिले गुनमें स्रवन, फेरि
रूपसुधा मधि कीनो नैनहू पयान है।

हँसनि, नटनि, चितवनि, मुसुकानि,
सुघराई, रसिकाई मिली मति पय-पान है ॥
मोहि-मोहि मोहनमयी री मन मेरो भयो,
'हरीचंद' भेद न परत पहचान है।
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है ॥

(४)

घाटनमें घाटनमें बीथिनमें बागनमें,
बृच्छनमें बेलिनमें बाटिकामें बनमें।
दरनमें दिवारनमें देहरी दरीचनमें,
हीरनमें हारनमें भूषनमें तनमें ॥
काननमें कुंजनमें गोपिनमें गायनमें,
गोकुलमें गोधनमें दामिनिमें घनमें।
जहाँ-जहाँ देखौं तहाँ स्याम ही दिखाई देत,
सालिगराम छाइ रह्यो नैननमें मनमें ॥

(५)

कहि न जाय मुखसों कछू स्याम-प्रेमकी बात।
नभ जल थल चर अचर सब स्यामहि स्याम लखात ॥
ब्रह्म नहीं माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यौ एक नँदलाल ॥
को, कासों, केहि बिधि, कहा कहै हृदै की बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सरवत्र लखात ॥

(६)

'नारायण' जाके हृदय सुंदर स्याम समाय।
फूल पात फल डारमें ताको वही लखाय ॥

उर दिवार दरपन भये, जित देखों तित तोहि ।
काँकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोहि ॥

इस प्रकार कृष्णमय जगत् देखनेवाली गोपियोंकी एक गाथा इस प्रकार है—निरन्तर श्रीकृष्ण-चर्चामें लगी हुई गोपियोंसे एक दिन एक गोपीने पूछा—बहिन ! क्या कहूँ, नन्दबाबा गोरे, यशोदाजी गोरी, दाऊजी गोरे, घरभरमें सभी गोरे, हमारे श्यामसुन्दर ही साँवरे कैसे हो गये ?" इसपर एक कृष्णदर्शनमयी गोपीने कहा—बहिन ! क्या तू इतना भी नहीं जानती—-अरी !

कजरारी अँखियानमें बस्यो रहत दिनरात ।
पीतम प्यारो हे सखी, तातें साँवर गात ॥

कितने रहस्यकी बात है, गोपीकी कजरारी आँखोंमें केवल श्रीकृष्ण ही बसते हैं, जगत्में उसकी आँखें और किसीको देखती ही नहीं ! कुछ लोग कहा करते हैं कि गोपियाँ भगवान्‌को सर्वव्यापक नहीं मानती थीं । उनका यह कहना ठीक ही है, क्योंकि गोपियाँ एकमात्र भगवान्‌को ही देखती थीं । जब दूसरी कोई वस्तु ही नहीं रही तब कौन किसमें व्यापक हो ?

इस प्रकार श्रीकृष्णके दिव्य प्रेममें डूबी हुई गोपियोंके चरण-पङ्कज-परागको बार-बार नमस्कार करके अब आगे बढ़ना है ।

गोपी-प्रेम

गोपी-प्रेममें रागका अभाव नहीं है, परन्तु वह राग सब जगहसे सिमटकर, भुक्ति और मुक्तिके दुर्गम प्रलोभन-पर्वतोंको लाँघकर केवल

श्रीकृष्णमें अर्पण हो गया है। गोपियोंके मन-प्राण सब कुछ श्रीकृष्ण-के हैं। इहलोक और परलोकमें गोपियाँ श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीको भी नहीं जानतीं। उनका जीवन केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये है, उनका जागना-सोना, खाना-पीना, चलना-फिरना, शृङ्गार-सज्जा करना, कबरी बाँधना, गीत गाना, बातचीत करना, सब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये है। श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही सम्पूर्ण कामनाओंसे सर्वथा शून्य उन गोपियोंको अपार सुख होता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

> निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
> ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने शरीरकी रक्षा मेरी सेवाके लिये ही करती हैं। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है, कि सुखसमुद्र, विज्ञानानन्दघन भगवान्‌को सुख पहुँचाना कैसा, क्या गोपियोंके द्वारा ही भगवान्‌को सुख मिलता है? भगवान् क्या स्वयं सुख-सन्दोह नहीं हैं? हैं क्यों नहीं। शक्तिमान् भगवान्‌की ही ह्लादिनी शक्ति तो श्रीराधिकाजी हैं, वे इस शक्तिको अपनी वंशीध्वनिद्वारा सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं। भगवान्‌की यह शक्ति स्वाभाविक ही अपनी सारी अनुगामिनी अङ्गशक्तियोंसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की ओर खिंचती रहती है और भगवान् उस आह्लादको पाकर पुनः उसे उन्हीं शक्तियोंको—प्रेमी भक्तोंको बाँट देते हैं। भक्त भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि—भगवान्‌का आवाहन सुनकर, घर-द्वारकी सुधि भुलाकर, प्रमत्त होकर अपना

[illegible], जित देखों तित तोहि ।
[illegible] भये आपही मोहि ॥

इस प्रकार श्यामसुन्दर रंगमें रंगी गोपियोंकी एक गाथा इस प्रकार है—किसी समय कृष्ण-प्रेममें रँगी हुई गोपियोंसे एक दिन एक सखीने पूछा—बहिन ! क्या कहूँ, नन्दबाबा गोरे, यशोदाजी गोरी, दाऊजी गोरे, घरभरमें सभी गोरे, हमारे श्यामसुन्दर ही साँवरे कैसे हो गये ?" इसपर एक कृष्णदर्शनमयी गोपीने कहा—बहिन ! क्या तू इतना भी नहीं जानती—अरी !

कजरारी अँखियानमें बस्यो रहत दिनरात ।
प्रीतम प्यारो हे सखी, तातें साँवर गात ॥

कितने रहस्यकी बात है, गोपीकी कजरारी आँखोंमें केवल श्रीकृष्ण ही बसते हैं, जगत्‌मे उसकी आँखें और किसीको देखती ही नहीं ! कुछ लोग कहा करते हैं कि गोपियाँ भगवान्‌को सर्वव्यापक नहीं मानती थीं । उनका यह कहना ठीक ही है, क्योंकि गोपियाँ एकमात्र भगवान्‌को ही देखती थीं । जब दूसरी कोई वस्तु ही नहीं रही तब कौन किसमें व्यापक हो ?

इस प्रकार श्रीकृष्णके दिव्य प्रेममे डूबी हुई गोपियोंके चरण-पङ्कज-परागको बार-बार नमस्कार करके अब आगे बढ़ना है ।

गोपी-प्रेम

गोपी प्रेममें रागका अभाव नहीं है, परन्तु वह राग सब जगहसे सिमटकर, मुक्ति और भुक्तिके दुर्गम प्रलोभन-पर्वतोंको लाँघकर केवल

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने शरीरकी रक्षा मेरी सेवाके लिये ही करती हैं। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और [illegible] नहीं है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है, कि सुखस्वरूप, चिदानन्दमय भगवान्‌को सुख पहुँचाना कैसा, क्या गोपियोंके द्वारा ही भगवान्‌को सुख मिलता है? भगवान् क्या स्वयं सुख-सन्दोह नहीं हैं? हैं क्यों नहीं। शक्तिमान् भगवान्‌की ही ह्लादिनी शक्ति तो श्रीराधिकाजी हैं, उस शक्तिको अपनी वंशीध्वनिद्वारा सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं। भगवान्‌की यह शक्ति स्वाभाविक ही अपनी सारी अनुगामिनी अङ्गशक्तियोंसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की ओर खिंचती रहती है और भगवान् उस आह्लादको पाकर पुनः उसे उन्हीं शक्तियोंका—प्रेमी भक्तोंको बाँट देते हैं। भक्त भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि—भगवान्‌का आवाहन सुनकर, घर-द्वारकी सुधि भुलाकर, प्रमत्त होकर अपना

सर्वस्व न्योछावरकर, भगवान्‌को सुखी करनेके लिये दौड़ता है। भगवान् उसकी दी हुई सुखकी भेंटको स्वीकार करते हैं और फिर उसीको लौटा देते हैं। दर्पणमें अपनी शोभा भरकर दर्पणको शोभायुक्त बनानेवाला पुरुष उस शोभाको स्वयं ही वापस पा जाता है और वह सुख लौटकर उसीको मिल जाता है। इसी प्रकार परम सुखसागर भगवान् गोपियोंके सुखकी भेंटको स्वीकारकर उनकी इस कामनाको कि 'श्रीकृष्ण हमें देखकर हमारी सेवा स्वीकारकर, हमारे साथ खेलकर सुखी हों' पूरी कर देते हैं। भगवान् सुखी होते हैं और वह सुख अपरिमितरूपमें बढ़ा करके उन्हींको दे देते हैं। गोपियोंके प्रेमकी यही विशेषता है कि गोपियोंको निज सुखकी कामना रत्तीभर भी नहीं है। उनके मनमें अपने सुखके लिये कल्पना ही नहीं होती। वे तो अपने द्वारा श्रीकृष्णको सुखी हुए देखकर ही दिन-रात सुख-समुद्रमें डूबी रहती हैं। गोपियोंका प्रेम काम-कालिमा-शून्य है; वह निर्मल भास्कर है, सर्वथा दिव्य है, अलौकिक है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए कहा है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल,
कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोक-धर्म, वेद-धर्म, देहधर्म, कर्म,
लज्जा-धैर्य, देह-सुख, आत्म सुख मर्म॥
सर्व त्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेमेर सेवन।

अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर,
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर ॥

काम और प्रेममें बड़ा ही अन्तर है, हम विषयविमोहित जीव कामको ही प्रेम मानकर पाप-पङ्कमें फँस जाते हैं। काम जहर मिला हुआ मधु है, प्रेम दिव्य स्वर्गीय सुधा है। काम थोड़ी ही देरमें दुःखके रूपमें बदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कममें ही सुखसुधाका स्वाद मिलता है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति, इन्द्रिय-चरितार्थता है, प्रेममें तन्मयता, प्रियतम-सुखकी नित्य प्रबल आकांक्षा है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति सुखरूप दीखनेपर भी परिणाममें दुःखरूप है, प्रेम सदा अतृप्त होनेपर भी नित्य परम सुखरूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है, प्रेम नित्य वर्धनशील है। काममें विषयतृष्णा है, प्रेममें विषयविस्मरण है। कामका लक्ष्य विषय है, आत्मतृप्ति है, प्रेमका विषय पूर्ण त्याग है और चरम आत्मविस्मृति है।

यथार्थ प्रेमसे ही कामका नाश हो जाता है। यद्यपि प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेकी इच्छाको कामना ही मानता है और समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एकमात्र प्रेममुखी होनेसे उसे कामना ही कहते हैं, परन्तु वह शुद्ध प्रेम यथार्थमें काम नहीं है। गौतमीय तन्त्रमें कहा है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः ॥

'गोपियोंके प्रेमका नाम काम होनेपर भी वह असलमें काम

नहीं, किन्तु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव-सरीखे महात्मा इसी 'काम' नामक प्रेमकी अभिलाषा करते हैं।' क्योंकि गोपियोंमें निजेन्द्रियसुखकी इच्छा है ही नहीं। वे तो श्रीभगवान्‌को भगवान् समझकर ही अपने सकल अङ्गोंको अर्पणकर उन्हें सुखी करना चाहती हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इन विषयासक्तिशून्य श्रीकृष्ण-गतप्राणा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य।
कृष्णसुखेर तात्पर्य गोपीभाव वर्य॥
निजेन्द्रिय-सुखवाञ्छा नहे गोपीकार।
कृष्णसुख-हेतु करे संगम विहार॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण विना आर सब करि परित्याग।
कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

अपना तन, मन, धन, रूप, यौवन, लोक-परलोक—सबको श्रीकृष्णकी सुखसामग्री समझकर श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। इस गोपीभावमें मधुर रसकी प्रधानता है। रस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। लौकिक और ईश्वरीय—दिव्य-भेदसे ये पाँचों रस दो प्रकारके हैं, अर्थात् लौकिक प्रेम भी उपर्युक्त पाँच प्रकारका है और दिव्य प्रेम भी पाँच प्रकारका है। परन्तु इन पाँचोंमें मधुररस—कान्ताप्रेम सबसे ऊँचा है। क्योंकि इसमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये चारों ही रस

विद्यमान हैं । यह अधिक गुणसम्पन्न होनेसे अधिक स्वादिष्ट है, इसीलिये इसका नाम 'मधुर' है । इसी प्रकार दिव्य प्रेममें भी कान्ता-प्रेम—मधुररस ही सर्वप्रधान है । शान्त और दास्य-रसमें 'भगवान् ऐश्वर्यशाली हैं, मैं दीन हूँ, भगवान् स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ'—ऐसा भाव रहता है । इसमें कुछ अलगाव-सा है, भय है और सकोच है, परन्तु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निजजन हैं, अपने प्यारे हैं, प्रियतम हैं, इनमें भगवान् ऐश्वर्यको भुलाकर, विभूतिको छिपाकर सखा, पुत्र या कान्तरूपसे भक्तके सामने सदा प्रकट रहते हैं । इन रसोंमें प्रार्थना-कामना है ही नहीं । अपने निज-जनसे प्रार्थना कैसी ? उसका सब कुछ अपना ही तो है ! इनमें भी कान्ताभाव सर्वप्रधान है । कान्ताभावमें पिछले दोनों रसोंका—सख्य और वात्सल्यका पूर्ण समावेश है । यहाँ भगवान्‌की सेवा खूब होती है, इतनी होती है कि सेवा करनेवाला भक्त कभी थकता ही नहीं, क्योंकि यह मालिककी सेवा नहीं है, प्रियतमकी सेवा है । प्रियतमके सुखी होनेमें ही अपार सुख है, जितना सुख पहुँचे, उतना ही थोड़ा, क्योंकि प्रियतमको जितना अधिक सुख पहुँचता है, उतने ही अपार सुखका अनुभव प्रियतमाको होता है ।

यह कान्ताभाव दो प्रकारका है—स्वकीया और परकीया । लौकिक कान्ताभावमें परकीया-भाव त्याज्य है, घृणित है, क्योंकि उसमें अङ्ग-सङ्गरूप कामवासना रहती है और प्रेमास्पद 'जारमनुष्य' होता है । परन्तु दिव्य कान्ताभावमें—परमेश्वरके प्रति होनेवाले कान्ताभावमें परकीया-भाव ग्राह्य है, वह स्वकीयासे श्रेष्ठ है । क्योंकि इसमें कहीं

तो बात ही क्या है, अपुनरावर्ती मोक्ष भी नहीं चाहता।' ऐसे भक्तोंके लिये भगवान् क्या कहते हैं, सुनिये--

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

'उनकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।' इसी कारण गीत-गोविन्दकारने 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' कहकर भगवान्‌के द्वारा श्रीराधाजीके पदकमलकी चाह करायी है। और इसी आधारपर रसिक रसखानिजीने कहा है--

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो पुरानन गानन, वेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितै, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो, रसखानि बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो, दुर्‌यो वह कुंज-कुटीरमें बैठ्यो पलोटत राधिका-पायन॥

यद्यपि भक्त कभी यह चाहता नहीं कि भगवान् प्रियतम मेरे पैर दाबे, परन्तु वहाँ तो सर्वथा ऐक्य होता है। कोई छोटा-बड़ा रहता ही नहीं। महाभारतमे सखा-भक्त अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके व्यवहारका वर्णन सञ्जयने कौरवोंकी राजसभामें किया है। अर्जुनसे ही जब वैसा व्यवहार था, तब गोपियोंके समान भक्तोंकी तो बात ही निराली है। गोपियोंका परकीया-भाव दिव्य है। लौकिक विषय-विमोहित मनवाले मनुष्य इसका यथार्थ भाव नहीं समझकर अपने वृत्तिदोषसे दोषारोपण कर बैठते हैं। असलमें व्रजगोपिकाओंका प्रेम अत्यन्त उच्चतम अवस्थापर स्थित है। उसमें सभी रसोंका विकास है, परन्तु मधुररस प्रधान है। यह मधुररस उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रेम

स्नेह, मान, राग, अनुराग और भावपर्यन्त पहुँच जाता है। भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव केवल प्रात:स्मरणीया व्रजदेवियोंमें ही था। श्रीभगवान्‌ने प्रेमिक भक्तोंकी प्रेमकामना पूर्ण करनेके लिये व्रजमण्डलमें इस सच्चिदानन्दमयी दिव्य लीलाको प्रकट किया था। गोपी-प्रेमकी यह पवित्र लीला भगवान्‌ने रमणाभिलाषासे अथवा गोपियोंकी काम-वासना-तृप्तिके लिये नहीं की थी, न तो भगवान्‌में रमणाभिलाषा थी और न गोपियोंमें काम-वासना ही। यह तो की गयी थी जगत्‌के जीवोंके कामनाशके लिये। रासलीला-प्रकरणको समाप्त करते हुए मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

> विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
> श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
> भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
> हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
> (श्रीमद्भा० १०। ३३। ४०)

'जो धीर पुरुष व्रज-बालाओंके साथ भगवान् विष्णुके (श्रीकृष्णके) इस रासविहारकी कथाको श्रद्धापूर्वक सुने या पढ़ेगा वह शीघ्र ही भगवान्‌की पराभक्तिको प्राप्त कर हृदयके रोगरूप काम-विकारसे छूट जायगा।'

जिस लीलाके भलीभाँति समझकर श्रद्धापूर्वक सुनने-पढ़नेसे ही हृद्रोग—काम-विकार नष्ट होकर पराभक्ति प्राप्त होती है, उस लीलाके करनेवाले नायक श्रीभगवान् और उनकी प्रेयसी नायिका गोपिकाओंमें काम-विकार देखना या कलुषित मानवी व्यभिचारकी कल्पना करना

कामविमोहित विषयासक्त मनुष्योंके बुद्धि-दोषका ही परिणाम है। व्रजलीला परम पवित्र है, इस बातको प्रेमीजन भलीभाँति जानते हैं और इसीसे नारद-सदृश देवर्षि और शिव-सदृश महान् देव उसमें सम्मिलित होनेकी वाञ्छासे गोपीभावमें दीक्षित होते हैं। मृत्युकी बाट देखनेवाले राजा परीक्षितको महाज्ञानी शुकदेवजी इसीलिये व्रजलीला सुनाते हैं, जिससे सहज ही पराभक्तिको प्राप्त कर परीक्षित् भगवान्के असली तत्त्वको जान लें और भगवान्को प्राप्त हो जायँ। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञाननिष्ठाके नामसे पराभक्ति-प्राप्तिका क्रम (और उसका फल) बतलाते हुए कहा है—

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
> शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
> विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
> अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
>
> (गीता १८। ५१—५५)

अर्थात् 'जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्तसेवी, मिताहारी, मन-वाणी-शरीरको जीता हुआ, सदा वैराग्यको धारण करने-

वाला, निरन्तर ध्यानपरायण, दृढ़ धारणासे अन्त करणको वशमें करके शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्यागकर, राग-द्वेषको नष्ट करके, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर ममतारहित, शान्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है, फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाला वह न किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही करता है और सब प्राणियोंमें समभावसे भगवान्‌को देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। उस पराभक्तिके द्वारा मेरे तत्त्वको भलीभाँति जानता है कि मैं किस प्रभाववाला हूँ। इसी पराभक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर भक्त तदनन्तर ही मुझमें मिल जाता है।

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो गोपियोंमें उपर्युक्त सभी बातें पूर्णरूपसे थीं। विशुद्ध बुद्धिका इससे बढ़कर क्या सबूत हो सकता है कि वह सदा भगवान् श्रीकृष्णमे ही लगी रहे। श्रीकृष्णमिलनके लिये एकान्त-सेवन शरीरसे ही नहीं, मनसे भी एकान्त रहना, खान-पान भूल जाना, मन-वाणी-शरीरको विषयोंसे खींचकर एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें लगाये रखना, घर-परिवार आदि किसी भी भोग-पदार्थमें राग न रखना, निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके ध्यानमे संलग्न रहना, मनमें श्रीकृष्णकी दृढ़ धारणासे अन्तःकरणको श्रीकृष्णमय बनाये रखना, श्रीकृष्णविषयक पदार्थोंके सिवा अन्य सभी शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्याग देना, जगत्‌की दृष्टिसे किसी भी पदार्थमें राग-द्वेष न रखना, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह सबका श्रीकृष्णमे उत्सर्ग कर देना, घर-द्वार ही नहीं, स्वर्ग और मोक्षमें भी ममत्व न

रखना; चित्तको सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें समाहित रखकर जगत्के विषयोंसे शान्त रखना और श्रीकृष्णको ब्रह्मरूपसे पहचानकर उनसे मिलनेके लिये व्याकुल होना गोपियोंके चरित्रमें पद-पदपर प्राप्त होता है। इसके सिवा उनका नित्यानन्दमयी होकर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकसे रहित होना और सर्वत्र श्रीकृष्णको सब प्राणियोंमें देखना भी प्रसिद्ध ही है। साधकोंको दीर्घकालके महान् साधनसे प्राप्त होनेवाली ये बातें गोपियोंमें स्वाभाविक थीं, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना रहस्य खोलकर बतला दिया और अपने स्वरूपका साक्षात् दर्शन कराकर उनके साथ दिव्य क्रीड़ा करके उन्हें श्रीकृष्णरूप बना लिया। ज्ञानियोंसे विशेषता यह रही कि इसमें सारी बातें केवल विचारके आधारपर न रहकर प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य हो गयीं। साक्षात् परब्रह्म महान् सुन्दर द्विभुज मुरलीमनोहररूपधारी बनकर स्वयं भक्तोंके साथ नाचे। अपनी रूपमाधुरीसे भक्तोंके चित्तको चुराकर, अपनी मुरली-ध्वनिसे प्रेमी भक्तोंको खींचकर अपने पास बुला लिया और उन्हें सब प्रकार कृतार्थ किया। एक महात्माने दिव्यदृष्टिसे देखकर सखी-भावमें प्रविष्ट होकर कहा था—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

'हे सखि! एक कौतुककी बात सुन। मैंने आज बाबा नन्दके आँगनमें वेदान्तके चरम सिद्धान्त ब्रह्मको गोधूलिधूसरिताङ्ग हुए नाचते देखा।'

ग्यानी बोध सुरूप ह्वै होहिं ब्रह्ममें लीन।
निरखत पै लीला मधुर प्रेमी प्रेम प्रबीन॥

ग्यानी ढिग गंभीर हरि सच्चिद ब्रह्मानंद ।
प्रेमी सँग खेलत सदा चंचल प्रेमानंद ॥
ग्यानी ब्रह्मानंद सों रहत सदा भरपूर ।
पै प्रेमी निरखत मुखद दुरलभ हरिको नूर ॥
प्रेमी भाग्य सराहि मुनि, ग्यानी बिमल बिबेक ।
चहै सुदुरलभ प्रेमपद तजि निजपदकी टेक ॥

रूपमाधुरी

भगवान्की उस रूपमाधुरीका वर्णन कौन कर सकता है ? वे एक बार जिसकी ओर प्रेमकी नजरसे देख लेते, उसीपर प्रेम-सुधा बरसाकर उसे अमर कर देते, उसकी सारी विषयासक्तिको नष्ट कर अपना प्रेमी बना लेते । पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया ।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥

'रे चित्त ! तेरे हितके लिये तुझे सावधान किये देता हूँ । कहीं तू उस वृन्दावनमें गाय चरानेवाले, नवीन नील मेघके समान कान्तिवाले छैलको अपना बन्धु न बना लेना, वह सौन्दर्यरूप अमृत बरसानेवाली अपनी मन्द मुसकानसे तुझे मोहित करके तेरे प्रिय समस्त विषयोंको तुरत नष्ट कर देगा !' अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन-स्वामीजीको भी उसकी रूपछटाके फंदेमें पड़कर स्वाराज्यसिंहासनसे च्युत होना पड़ा । वे कहते हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

'अद्वैतमार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासन-पर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमको गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक (जबरदस्ती इच्छा न रहनेपर भी) अपने चरणोंका गुलाम बना लिया ।' भक्त लीलाशुकजी उस बालकृष्णकी छविके जादूसे डरकर सबको सावधान करते हुए कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको ! उस रास्ते न जाना । वह गली बड़ी भयावनी है ! वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर हाथ रक्खे जो तमालके तुल्य नीले रंगका एक नंग-धड़ंग बालक खड़ा है वह केवल देखनेमात्रका ही अवधूत है, असलमें तो वह अपने पास होकर निकलनेवाले किसी भी मुसाफिरके मनरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता ।'

व्रजरससीले साह कुन्दनलालजी श्रीललितकिशोरीजी बने हुए कहते हैं—

नैन-चकोर मुख-चंदहूपै वारि डारौं,
वारि डारौं चित्तहि मनमोहन चितचोरपै।
प्रानहूको वारि डारौं हँसन दसन लाल,
हेरन कुटिलता औ लोचनकी कोरपै॥
वारि डारौं मनहिं सुअंग-अग स्यामा-स्याम,
महल मिलाप रसरासकी झकोरपै।
अतिहि सुघर वर सोहत त्रिभंगीलाल,
सरवस वारौं वा ग्रीवाकी मरोरपै॥

सर्वस्व वार देनेपर भी वह फिर अपनी तिरछी चितवनकी बरछीसे प्रेमी भक्तको घायल करता है और बार-बार उसकी ओर झाँक-झाँककर, हँस-हँसकर घावपर नमक बुरकाता रहता है—

देखो री ! यह नंदका छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी-सी तिरछी चितवनकी पैनी छुरी चलाता है॥
हमको घायल देख बेदरदी मंद-मंद मुसकाता है।
'ललितकिसोरी' जखम जिगरपर नौनपुरी बुरकाता है॥

श्यामकी तिरछी नजरसे घायल प्रेमीका यह ज़ख्मेजिगर कभी सूख ही नहीं सकता, वह सदा हरा रहता है और उसकी पल-पलकी कसक ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर आनन्द दिया करती है। गोपियोंके हृदयमें यह घाव बहुत गहरा था। बड़े भाग्यसे यह दिनोंदिन बढ़नेवाला घाव होता है, और स्वयं साँवरेके वैद्य बनकर आनेपर भी यह अच्छा नहीं होता। श्यामसुन्दरके दर्शनसे ही यह बढ़ जाता है, और अदर्शन कभी सुहाता नहीं। एकमात्र वही वैद्य हैं, परन्तु वैद्य घाव बढ़ाते हैं, घटाते नहीं। इस घावके बढ़नेमें ही सुख है, इसीलिये

भावसे कराहना और बार-बार घाव बढ़ानेका कार्य करना, यही बस, प्रेमियोंके जीवनका नित्य परम सुखदायी दुःख हो जाता है ।

मुरली और रास

यही हाल उसकी मुरलीका है । जब वह बजती है तब औरोंकी तो बात ही क्या है, निर्बीज-समाधिमें स्थित योगियोंकी समाधि भी टूट जाती है ।

वह वंशीध्वनि निकलते ही जड़को चेतन और चेतनको जड बना देती है । इसीसे एक वार एक गोपीने व्यङ्ग्यसे मुरलीकी महिमा गाते हुए कहा था—

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम् ।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम् ॥

'हे मुरारे ! अरे, मेरे रसोई बनाते समय तो तुम कृपाकर अपनी मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो, क्योंकि उस ध्वनिके आते ही मेरी सूखी लकड़ियाँ हरि हो रस टपकाने लगती हैं और आग बुझ जाती है, जिससे रसोई भी नही हो पाती है ।' दूरसे मुरलीकी टेर सुनकर एक सखी दूसरीसे कहती है—

सुनती हौ कहा, भजि जाहु घरै, बिंध जाओगी नैनके बाननमें ।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिषसों बगरावति है विष प्राननमें ॥
अब ही सुधि भूलिहौ भोरी भटू, भँवरो जब मीठी-सी ताननमें ।
कुलकानि जो आपनि राखि चहौ दे रहौ अंगुरी दोउ काननमें ॥

इस वंशीकी और रासकी कुछ आलोचना किये बिना गोपी-प्रेमकी चर्चा अधूरी रह जाती है । इसलिये कुछ इन विषयोंपर भी विचार करना है ।

श्रीकृष्णमिलनके लिये कात्यायनीकी पूजा करनेवाली गोपियोंको वर देनेके दिन भगवान्‌ने उनके वस्त्र हरणकर उनके निर्मल और अनन्य प्रेमकी परीक्षा की। उनका सारा भेद-ज्ञान हरण करके उन्हें निर्मल प्रेमपथकी अधिकारिणी समझकर मिलनका वरदान दिया। वस्त्रहरणलीलामें पाप देखना पापबुद्धिका परिणाम है। जीवात्माका परमात्माके सामने कोई पर्दा नहीं रह सकता। पर्दा मायामें ही है। सबके अन्तरात्मा भगवान्‌से कौन जीवात्मा अपने अङ्गोंको छिपानेका भाव रख सकता है? वह जबतक छिपाता है तबतक परमात्माको परमात्मा न समझकर अपने पृथक्त्वका अभिमान बनाये रखता है। चीरहरणसे गोपियोंका यह मोह भङ्ग हुआ। उन्होंने श्रीकृष्णको परमात्मा समझा और जीवभावसे वे अभिमानके पर्देको तोड़कर भेदमूलक मायाके वस्त्रोंसे सर्वथा रहित होकर सर्वात्मरूप प्रभुके सामने आ गयीं।

इसके कुछ दिनों बाद शरत्पूर्णिमा आयी। भगवान्‌के मिलनका दिन आया। शारदीया रजनी, प्रफुल्ल मल्लिका, पूर्ण सुधांशुकी सुधामयी मधुर किरणों आदि उद्दीपन भावोंसे गोपियोंके हृदयमें एक अलक्ष्य आकाङ्क्षा जाग उठी, मानो उनका हृदय किसी वस्तुको चाहने लगा। यह थी श्रीकृष्णमिलनकी कामना।

बस, इसी समय श्रीकृष्णकी मोहन मुरली बज उठी। शारद सुधाकरकी ज्योत्स्नामें, नील यमुनाके निर्मल सैकतमें, मन्दानिलसे आन्दोलित माधवी कुञ्जमें आत्माराम, पूर्णकाम, योगेश्वरेश्वर, नित्य नव-नटवर मोहनकी मधुर मुरलीसे विश्व-विमोहन प्रेमके आवाहनका अनङ्ग-

वर्धक, आनन्ददायक संगीत प्रारम्भ हो गया। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

> निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
> व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
> आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
> स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । २९ । ४)

'उस अनङ्गवर्धन (श्रीकृष्ण-मिलन-कामनाको बढ़ानेवाले) गानके कानोंमें पड़ते ही समस्त व्रज-वनिताओंका मन श्रीकृष्णमय हो गया। वे उसी समय तुरंत सब कुछ छोड़कर अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास चली गयीं। उतावलीके कारण किसीने किसीको साथ लेनेका भी कोई प्रयत्न नहीं किया। (सब अलग-अलग ही, जो जिस अवस्थामें थी उसी अवस्थामें, सब कुछ भूलकर दौड़ पड़ी।) उस समय वे इतने वेगसे चलीं कि सारे रास्ते उनके कानोंके कमनीय कुण्डल हिलते रहे।'

अनङ्गके बढ़ जानेपर वे अपने-अपने पतियोंके पास न जाकर श्रीकृष्णके पास क्यों गयीं? इसमें कारण है। उनका अनङ्ग लौकिक काम नहीं था। श्रीकृष्णमिलनकी योगिजनदुर्लभ प्रबल कामना थी, जो किसी अङ्गवाली न होनेपर भी बड़ी प्रबल थी और जिसने उनको बरबस श्रीकृष्णकी ओर दौडनेको बाध्य कर दिया था। वंशीध्वनि अखण्डानन्द प्रदान करनेके लिये भगवान्‌का निमन्त्रण था, उसे वे कैसे टाल सकती थीं? वह वंशी कैसे बजी, उसकी ध्वनि कहाँतक गयी?

> रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं
> ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम् ।

औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥

'वंशीका वह पवित्र सङ्गीत अपनी सुधामयी स्वरलहरीसे समस्त वृन्दावनको आप्लावित करता हुआ, आकाशमें पहुँचकर जलदसमूहको स्तम्भित करता हुआ स्वर्गमें देवगायक तुम्बुरुको पुनः-पुनः चकित करता हुआ, ब्रह्मलोकमें सनन्दनादि महामुनियोंकी निर्गुण ब्रह्मकी निर्बीज समाधिको भङ्ग करता हुआ, स्वयं प्रजापति ब्रह्माको विस्मित करता हुआ, यों ऊर्ध्वलोकमें अपनी विजयपताका फहराकर नीचे पातालकी ओर चला और वहाँ राजा बलिको चौंकाकर नागराज अनन्त शेषनागके सहस्र फणोंको कँपाकर, अखिल ब्रह्माण्डकटाहको भेदकर श्रीकृष्णका वह वंशीसङ्गीत सब ओर फैल गया।'

परन्तु इतनेपर भी इस आवाहन-सङ्गीतको सुना भक्तोंने ही, और वे उसी समय दौड़ चले। अब भी श्यामकी यह वंशी वैसे ही बजती है और प्रेमी भक्त अब भी उसे सुनते हैं। अस्तु, भक्तप्रवर श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

सुनत चलीं ब्रज-वधू गीत-धुनिको मारग गहि।
भवन भीत द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकी नहिं॥
नाद अमृतको पंथ रँगीलो सुच्छम भारी।
तेहिं मग ब्रजतिय चलैं, आन कोउ नहिं अधिकारी॥

वे मुरलीकी ध्वनिको लक्ष्य करके उन्मत्तकी भाँति चलीं और भगवान् श्रीकृष्णके चरण-प्रान्तोंमें जा पहुँचीं। यहाँ फिर प्रेम-परीक्षा होती है। खास करके दो बातें देखनी हैं—(१) गोपियोंका किसी

सासारिक विषयमें मन आसक्त है या नहीं और (२) वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती हैं या नहीं इसीलिये पहले-पहल भगवान्ने उनसे कहा---

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। १८)

'हे महाभागाओ! तुम्हारा स्वागत है। कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ? व्रजमें सब कुशल तो है, इस समय अपने यहाँ आनेका कारण तो बताओ?'

गोपियाँ भगवान्की ऐसी वाणी सुनकर मुसकरा दीं, कुछ बोलीं नहीं। भगवान् फिर बोले—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥
(१०। २९। १९)

'हे सुन्दरियो! देखो, रात्रि बड़ी घोर है। इस समय बहुत-से भयानक जीव इधर-उधर फिर रहे हैं। इसलिये तुमलोग तुरत व्रजको लौट जाओ। यहाँ स्त्रियोंका अधिक देर ठहरना ठीक नहीं है।'

गोपियोंने कुछ उत्तर नहीं दिया। भगवान् फिर बोले—

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥
(१०। २९। २०)

'तुम्हें घरमे न देखकर तुम्हारे माता-पिता, पुत्र, भाई और पति

आदि तुम्हें ढूँढ़ने होंगे। तुम यहाँ ठहरकर अपने घरवालोंको व्यर्थ घबड़ाहटमें न डालो।'

यहाँ भगवान्‌ने सांसारिक अति निकटके सम्बन्धियोंकी बात याद दिलाकर यह जानना चाहा कि देखें गोपियोंके मनमें उनके प्रति मोह या उनसे भय है या नहीं। ये मायिक जगत्‌में हैं या ईश्वराभिमुखी हैं? परन्तु गोपियाँ इस परीक्षामें पास हो गयीं। ऋषिपत्नियाँ यहीं, इसी प्रसङ्गपर घर लौट गयी थीं। गोपियाँ कुछ नहीं बोलीं। उनके चित्तमें संसारकी आत्मीयताका कुछ भी मोह नहीं जाग्रत् हुआ। वे भगवान् परमात्मा श्रीकृष्णके प्रेममें डूब रही थीं।

चाँदनी रातकी सुन्दर शोभा देखकर गोपियोंके मनोंमें श्रीकृष्ण-प्रेम जागा था, यह जागृति लौकिक थी या दिव्य? इसीको जाँचनेके लिये भगवान्‌ने फिर कहा—

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥
तद् यात माचिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥
(१० । २९ । २१-२२)

'तुम रजनीशकी रश्मियोंसे रञ्जित और यमुनाजलके स्पर्शसे शीतल मन्द-मन्द पवनकी गतिसे हिलते हुए नवपल्लवोंसे सुशोभित एवं कुसुद-कुसुम-मण्डित, मनोहर इस वृंदावनकी शोभा देख चुकीं। अब हे सतियो! देर न करो, तुरन्त ही व्रज लौट जाओ और अपने-अपने पतियोंकी सेवा करो। देखो, बालक और तुम्हारी गायोंके बछड़े रो रहे होंगे, जाकर उन्हें दूध पिलाओ और गायें दुहो।'

सती स्त्रीके लिये पति-सेवासे बढ़कर और कौन-सा महत्त्वका कार्य हो सकता है ? भगवान्‌ने 'सती' सम्बोधन करके पतियोंकी याद दिलायी। माताको पुत्र और ग्वालिनोंको गौ-बछड़े बड़े प्रिय होते हैं, उनका भी करुण शब्दोंमे स्मरण कराया। इनका मन पति-पुत्रोंमे है या सबसे विरक्त होकर केवल मुझ भगवान्‌मे है—यह जाननेके लिये भगवान्‌ने इतनी बातें कहीं। गोपियाँ अब भी कुछ नहीं बोलीं। अबकी बार भगवान्‌ने अपने बाह्य सौन्दर्यकी महिमा दिखलाकर—यह जाननेके लिये कि ये केवल सौन्दर्यपर ही मोहित हैं या मुझे ईश्वर समझकर आयी हैं, भगवान् बोले—

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥
(१०।२९।२३)

'अथवा यदि तुम मेरे स्नेहके कारण आसक्तचित्त होकर मुझे देखने आयी हो तो कोई दोषकी बात नहीं, क्योंकि मुझको देखकर सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं।' परन्तु—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥
(१०।२९।२४-२६)

'हे कल्याणियो! पति और उसके बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना तथा सन्तानका पालन-पोषण करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है। जिन स्त्रियोंको शुभ गति पानेकी इच्छा हो वे अपने अपातकी पतिका किसी प्रकार भी त्याग न करें, चाहे वह बुरे स्वभाववाला, अभागा, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो। कुल-स्त्रियोंके लिये उपपति (जार) की सेवा करना सर्वथा निन्दनीय है, इससे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, संसारमें अपकीर्ति होती है। यह अत्यन्त ही निन्दनीय और भयदायक कार्य है।'

भगवान्ने सब बातें खोलकर कह दीं। यदि मुझको मनुष्य मानकर कामाभिलाषासे आयी हो तो नरकगामिनी होओगी, संसारमें अयश होगा, क्योंकि यही वेदधर्म है।

इस उपदेशसे भी गोपियाँ नहीं हिलीं, तब भगवान्ने उन्हें जाँचनेके लिये फिर कहा—

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥

(१० । २९ । २७)

(अच्छा, मुझमें कुछ महत्त्व समझकर आयी हो तो भी) 'मेरे गुण-श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तनसे मुझमें जैसा प्रेम होता है वैसा पास रहनेसे नहीं होता, इसलिये तुम अपने घरोंको लौट जाओ।' ऋषिपत्नियाँ इसी प्रकारकी बात सुनकर लौट गयी थीं, परन्तु गोपियाँ नहीं लौटीं। ऋषिपत्नियोंने भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् तो जान लिया

था, परन्तु उनकी घरोंमें ममता थी। गोपियाँ संसारसे सर्वथा वैराग्यवती और भगवान्‌की महिमासे पूर्ण परिचित थीं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि भगवान् समस्त जगत्‌के आत्मा हैं। हमारे, हमारे पतियोंके, हमारे पुत्रोंके—सबके एकमात्र आत्मा हैं। जगदात्मा भगवान्‌में औपपत्य (जारपने) की कभी कल्पना ही नहीं हो सकती; बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी संसारके सारे बन्धनोंको तोड़कर सबसे उपराम होकर जिन सच्चिदानन्दघन प्रभुकी प्राप्ति चाहते हैं, वही साक्षात् परमात्मा सुन्दर प्रियतमके रूपमें हमारे सामने खड़े हैं, उन्हींके चरणोंमें हम उपस्थित हैं। अब इन्हें छोड़कर जाना मूर्खता नहीं तो क्या है? अतः प्रेममयी गोपियाँ आँखोंमें आँसू भरकर प्रणयकोपके कारण गद्गद हुई वाणीसे बोलीं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ३१-३२)

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

'हे सर्वव्यापक ! आपको ऐसे कठोर शब्द नहीं कहने चाहिये। हम अन्य समस्त विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके चरणकमलोंमे ही अनुरक्त हैं। अत जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको अपनाते हैं, आप भी हमलोगोंको इसी प्रकार ग्रहण कीजिये, कभी त्यागिये नहीं। हे कृष्ण ! आप स्वयं धर्मको जाननेवाले हैं, (सबसे बढ़कर धर्म तो आपके चरणोंका आश्रय है, फिर आप धर्मविद् होकर कैसे हमें लौट जानेको कहते हैं ?) आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका धर्म है, सो यह उपदेश आप ईश्वरमें ही रहे। क्योंकि इस उपदेशके आश्रय आप ही हैं। आप ही धर्मकी अन्तिम गति हैं। पति, पुत्र आदि समस्त देहधारियोंके आप ही प्रिय बन्धु और आत्मा हैं। निश्चय ही आप केवल यशोदाके पुत्र नहीं हैं। बल्कि आप समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणके साक्षी हैं। हे सखे ! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे आपने सम्पूर्ण जगत्की रक्षाके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है।'

हमें छलिये नहीं। आप साक्षात् परमेश्वर हैं। आपके बिना पति, पुत्रादि किसीकी भी सम्भावना नहीं है। सबके आश्रय, सबकी गति, समस्त धर्मोंके अधिष्ठान, ईश्वरोंके ईश्वर आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ और क्यों जायँ ?

गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण

पुरुषोत्तम, विज्ञानानन्दघन, विश्वात्मा परमेश्वर हैं। परमेश्वर ही सबके आत्मा और चरम गति हैं, अब उन परमात्माको पाकर गोपियाँ वहाँ से क्यों हटने लगीं? उन्होंने कहा—

> कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
>   नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
> तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
>   आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥
> चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
>   यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
> पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
>   यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३३-३४)

'शास्त्रज्ञ पुरुष अपने नित्यप्रिय आत्मारूप आपहीमें प्रेम करते हैं। इस लोकमें संसार-दुःख देनेवाले, पति-पुत्रादिसे उन्हें क्या प्रयोजन है? अतः हे परमेश्वर! आप हमपर प्रसन्न होइये। हमारी चिरकालकी आशालताको काटिये नहीं। अब हम किसी प्रकार घर नहीं जा सकतीं। हमारा जो चित्त सुखपूर्वक घरमें आसक्त था, उसको आपने चुरा लिया, हमारे हाथ घरके कामोंमे लगे थे वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी आपके चरणकमलोंसे एक पग भी नहीं हटना चाहते। हम किस प्रकार घर जायँ और वहाँ जाकर अब करें भी क्या?'

भगवान्‌ने भक्तकी परीक्षा की, परीक्षामें भक्त उत्तीर्ण हो गया, तब उसे मनोवाञ्छित फल दिया। योगेश्वरेश्वर भगवान्‌ने आत्माराम

होकर गोपियोंके साथ आत्मरमण किया । इसके बाद भगवान् एक बार अन्तर्धान हो गये । पीछेसे गोपियाँ भगवान्‌के अदर्शनसे व्याकुल होकर भगवान्‌को ढूँढ़ती और विविध विलाप करती रहीं ।

दोहा

कुंज कुंज ढूँढ़त फिरीं, खोजत दीनदयाल ।
प्राननाथ पाए नहीं, विकल भई व्रज-बाल ॥

रोला

विरहाकुल ह्वै गईं सबै पूछत बेली-बन ।
को जड़, को चैतन्य, न कछु जानत विरही जन ॥
हे मालति, हे जाति,जूथके, सुनि हित दै चित ।
मान हरन मन-हरन लाल गिरधरन लखे इत ॥
हे केतकि, इतते कितहूँ चितए पिय रूसे ।
कै नँदनदन मंद मुसुकि तुमरे मन मूसे ॥
हे मुक्ताफल बेल, धरे मुक्ताफल-माला ।
देखे नैन बिसाल मोहना नँदके लाला ॥
हे मंदार उदार, बीर करबीर महामति ।
देखे कहुँ बलबीर धीर मन-हरन धीर-गति ॥
हे चंदन, दुखदंदन, सबकी जरन जुड़ावहु ।
नँदनंदन जगबंदन चंदन हमहिं बतावहु ॥
पूछो री इन लतनि फूल रहिं फूलनि जोई ।
सुंदर पियके परस बिना अस फूल न होई ॥
हे सखि, हे मृगवधू ! इन्हैं किन पूछहु अनसरि ।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे है हरि ॥
अहो सुभग बनगंध पवन सँग थिर जु रही चलि ।

सुखके भवन दुख-दवन रवन इतते चितए वलि ॥
हे चंपक, हे कुसुम, तुम्हे छवि सवसों न्यारी।
नैक वताय जु देउ जहाँ हरि कुंज-विहारी॥
हे कदंव, हे निंव, अंव, क्यों रहे मौन गहि।
हे वट, उतंग सुरंग वीर कहु तुम इत उत लहि॥
हे असोक, हरि सोक, लोकमनि पियहि वतावहु।
अहो पनस सुभ सरस, मरत तिय अमिय पियावहु॥
जमुन निकटके विटप पूछि भई निपट उदासी।
क्यों कहिहैं सखि, अति कठोर ये तीरथवासी॥
हे जमुना, सव जानि-वूझि तुम हठहि गहत हो।
जो जल जग उद्धार, ताहि तुम प्रगट बहत हो॥
हे अवनी, नवनीत-चोर चित-चोर हमारे।
राखे कतहुँ दुराय वता देउ प्रान पियारे॥
हे तुलसी कल्यानि, सदा गोविँद-पद-प्यारी।
क्यों न कहो तुम नंदसुवनसों विथा हमारी॥
जहँ आवत तुम कुंज पुंज गहवर तरु छाँईं।
अपने मुख चाँदने चलत सुंदर वन माँईं॥

(नन्ददासजी)

वे बोलीं—

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। २९)

'भगवान् श्रीगोविन्दकी चरणरज अत्यन्त पवित्र है। ब्रह्मा, शिव,

रमा आदि भी इसको मस्तकपर धारण करते हैं, हमलोग भी इसे मस्तकपर धारण करें।' यों कहते-कहते वे श्रीकृष्णमें तन्मय होकर श्रीकृष्णकी-सी लीलाएँ करने लगीं।

> इहि विधि बन-बन ढूँढि बूझि उनमतकी नाईं।
> करन लगीं मनहरन लाल-लीला मन भाईं॥
> मोहन लाल रसालकी लीला इनहीं सोहैं।
> केवल तन्मय भईं कछु न जानें हम को हैं॥
>
> (नन्ददासजी)

तदनन्तर पुनः भगवान्‌ने प्रकट होकर प्रत्येकके साथ एक-एक अलग-अलग बनकर रास किया।

रासका पहला श्लोक है—

> भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
> वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

'भगवान्‌ने योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा की।' इसके बाद 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' (आत्माराम होकर रमण किया)' 'साक्षान्मन्मथमन्मथ.' (कामदेवको भी मोहनेवाले), 'आत्मन्यवरुद्ध-सौरत.' (अस्खलितवीर्य), आत्मकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, योगेश्वरेश्वर आदि शब्द आते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌की यह लीला परम दिव्य थी। इसमें लौकिक कामगन्धको जरा-सा भी स्थान नहीं है। 'भगवान्' शब्दसे ही सिद्ध होता है कि भगवान्‌में औपपत्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे सबके अन्तरात्मा हैं। जिनमें

अणिमादि आठों ऐश्वर्य विद्यमान हों, जो धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञानके अपार और अटूट भण्डार हों उन्हींको भगवान् कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

(विष्णुपु० ६ । ५ । ७४)

इस प्रकार षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्मे कामवासना या औपपत्य घट ही नहीं सकता। भगवान्ने यह सारी लीला अपनी योगमायाके द्वारा की। जिसकी जैसी इच्छा थी, भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्की योगमायासे उसे वैसा ही होता प्रतीत हुआ। योगमाया—(भगवान्की अपनी दिव्य नित्य शक्ति) के प्रभावसे ही निःसंग भगवान् सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी लीला किया करते हैं। ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार अपने इच्छानुसार दर्शकोंको मोहित करके मनमानी घटनाएँ उन्हें दिखाता है, इसी प्रकार भगवान्ने योगमायासे लीलाएँ कीं। राधिकाजी योगमायाका स्वरूप थीं। योगमायाके दूसरे एक स्वरूपको पहले भेजकर कंसको सन्देश दिलाया था और उसी योगमायाके द्वारा व्रजमे भगवान्ने दिव्य लीलाविलास किया। ब्रह्माके द्वारा गोप-बालकोंके और गोवत्सोंके हरण किये जानेपर पॉच वर्षके शिशु श्रीकृष्ण अपनी योगमायाके प्रभावसे स्वय गोप-बालक, बछडे और उनके सारे सामान—कपडे, सींग, लाठी आदि बन गये। छः वर्षके बालक श्रीकृष्णने योगमायाके प्रभावसे कालियदमन और दावाग्निपान किया। इसी अवस्थामें भगवान्ने पतिरूपसे चाहनेवाली व्रजबालाओं-का मायाभ्रम दूर करके सम्पूर्ण आत्मसमर्पणकी योग्यता प्रदान करने-के लिये उनके वस्त्र-हरणकी लीला की। इसी योगमायाके प्रभावसे

सात वर्षके बालक श्रीकृष्णको व्रजयुवतियोंने नव-यौवनसम्पन्न देखा। इसी अपनी योगमायाके प्रभावसे रासमण्डलमें भगवान् क्रीड़ा (रमण) करते हुए प्रतीत हुए। इसी योगमायाके बलसे प्रत्येक गोपीने गोपीनाथको अपने साथ देखा। बालक जैसे दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बके साथ स्वच्छन्द खेलता है, इसी प्रकार योगमायाके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी छायास्वरूपा गोपियोंसे विलास किया—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । १७)

और योगमायाके प्रभावसे ही व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास ही सोये हुए देखा —

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३८)

योगमायाके प्रभावसे ही कंसके दरबारमें प्रवेश करते समय एकादशवर्षीय बालक श्रीकृष्णको मल्लोंने वज्रके समान, नागरिकोंने विलक्षण नरश्रेष्ठरूपमें, स्त्रियोंने मूर्तिमान् कामदेवके तुल्य, गोपोंने निजजनके सदृश, दुष्ट राजाओंने शासकके समान, वसुदेव और देवकीने पुत्ररूपमें, कंसने साक्षात् मृत्युरूपमे, विद्वानोंने विराट् पुरुषके रूपमें, योगियोंने परमतत्त्वके रूपमें और यादवोंने परम देवताके रूपमें देखा।

यह पूर्णकाम, सत्यकाम, योगेश्वरेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण, अघटनघटनापटीयसी योगमायाके सञ्चालक, ह्लादिनी शक्तिके शक्तिमान्,

भक्तवाञ्छाकल्पतरु साक्षात् भगवान् और उन्हींके प्रतिबिम्बरूप भक्तोंकी दिव्य प्रेमलीला थी ।

वास्तवमें श्रीकृष्णके साथ राधाका सर्वथा अभेद है। श्रीकृष्णके सौन्दर्य और माधुर्यका आस्वाद करनेवाली श्रीकृष्णकी अपनी ही ह्लादिनी शक्तिका नाम श्रीराधा है और श्रीकृष्णकी असंख्य शक्तियोंमेंसे जो शक्तियाँ इस ह्लादिनी शक्तिकी पुष्टिकारिणी हैं वे ही श्रीराधाकी सहचरी सखियाँ श्रीगोपियाँ हैं। उनमे भी सखी, सहेली, सहचरी, दूतिका, दासी आदि कई भेद हैं। श्रीकृष्ण सुन्दरतम और मधुरतम हैं; इसीलिये वे रसराज, साक्षात् मन्मथमन्मथ, कोटिमनोज-लजावनहारे, कन्दर्पके मूल बीज, दिव्य, नित्य, नवीन मदन, विज्ञानानन्दघन परम पुरुषोत्तम हैं और श्रीराधा श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यसे मुग्ध, कृष्णानुरागमयी, कृष्णभावमयी परा प्रकृति हैं। श्रीकृष्ण इस अपनी ही शक्तिद्वारा अपने सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करते हैं। यही रसराज श्रीकृष्ण और रसरंगिणी श्रीराधाकी पारस्परिक प्रेम-सम्पत्ति है । यह प्रेम मानवीय नहीं है, यह नरलोकमे नहीं होता । इसीलिये श्रीचैतन्य-चरितामृतमे कहा गया है—

परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
व्रजविना इहार अन्यत्र नाहि वास॥

इस अति रसके उल्लासरूप दिव्य परकीयाभावका व्रजके (दिव्य श्रीकृष्णप्रेममय गोलोकके) अतिरिक्त अन्यत्र कहीं निवास नहीं है और इसीलिये ये व्रजराज रसराज श्रीकृष्ण इस वृन्दावनको छोड़कर एक पैंड भी कहीं नहीं जाते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध चिन्मय, शुद्ध आनन्दमय, शुद्ध प्रेममय, शुद्ध रसमय हैं और ये श्रीकृष्णकान्ता गोपियाँ (श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति राधा और श्रीराधा-कृष्णका सदा मिलन-संयोग करानेमें ही नित्य संलग्न रहनेवाली, श्रीराधासे भी बढ़कर सुखानुभव करनेवाली सखियाँ) शुद्ध चिन्मयी, शुद्ध आनन्दमयी, शुद्ध प्रेममयी और शुद्ध भावमयी हैं। ये और इनके देहादि वस्तुतः हमलोगोंकी भाँति रक्त-मांसमय नहीं हैं, प्रापञ्चिक या कल्पित नहीं हैं, कर्मजन्य सुख-दुःख-भोग-निमित्त नहीं हैं, ये नित्य हैं, प्रपञ्चमय मायिक जगत्‌में प्रकट होनेपर भी मृत्युलोकमें लीला करनेपर भी मरण-धर्मसे सर्वथा अतीत हैं। प्रेमसे झलकते हुए दिव्य नेत्रोंसे ही इनकी दिव्य मूर्तियोंके और नित्यरासके दर्शन हो सकते हैं।

पद्मपुराणमें श्रीमहादेवजीके प्रति स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

इमां तु मत्प्रियां विद्धि राधिकां परदेवताम्।
अस्याश्च परितः पश्चात् सख्यः शतसहस्रशः॥
नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः।
सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम॥
सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम्।
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम॥
(पाताल० ५१।७३-७५)

"ये श्रीराधिकाजी मेरी प्रिया हैं—इन्हें परमदेवता समझिये। इनके चारों ओर और पीछे लाखों सखियाँ हैं। जैसे मैं नित्यविग्रह

हूँ इसी प्रकार ये सब भी नित्य हैं। मेरे पिता, माता, सखा, गोप, गौ और यह मेरा वृन्दावन सभी नित्य और चिदानन्दरसमय है। इस वृन्दावनको मेरा आनन्दकन्द जानो।"

रसोल्लासतन्त्रमें श्रीशिवजी देवी पार्वतीको रासके सम्बन्धमें कहते हैं—

शरीरे देहानि यथा स्थूलं सूक्ष्मं च कारणम्।
तथैवान्यद् देहं ज्ञेयं भावदेहं प्रकीर्तितम्॥
कृपालब्धमिदं देहं सहजं जन्मजन्मनि।
अथवा साधनालब्धं कदापि वा महेश्वरि॥
न सगुणं निर्गुणं वा देहमिदं परात्मकम्।
कुत्रापि न हि द्रष्टव्यं लोके वृन्दावनं विना॥
सङ्गतं सह कृष्णेन गोपीनां चरितं च यत्।
तत्र कामादकामाद्वा भावदेहेन तत्कृतम्॥

अर्थात् जैसे शरीरके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देह हैं, ऐसे ही एक भावदेह और होता है; यह देह भगवत्कृपासे प्राप्त होता है और उन्हींकी कृपासे जन्म-जन्मान्तरमें सहज ही मिल जाता है। (प्राय. ऐसा देह भगवान्के मुक्त परिकरोंका या कारक पुरुषोंका होता है) अथवा हे महेश्वरि! कभी-कभी साधनाके द्वारा भी इस देहकी प्राप्ति हो सकती है। यह भाव-देह न (कर्मजन्य) सगुण है और न निर्गुण है, यह परात्मक देह है जो वृन्दावनके सिवा और कहीं नहीं देखा जाता। श्रीकृष्णके साथ मिलकर गोपियाँ

कृतार्थ हुई थीं। उनका यह मिलन न कामजन्य था और न अकाम। वह भावदेहकृत था। शिवजीके इन वाक्योंसे श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमकी दिव्यता स्पष्ट है। गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ रमण प्राकृत शारीरिक नहीं था, उसमें इन्द्रियोंका विषय तनिक भी नहीं था; अतएव इस दिव्य प्रेमलीलामें दोष देखना महापाप है।

अधिकार और कर्तव्य

परन्तु एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि ऐसी लीलाका नायक सिवा भगवान्‌के और कोई भी नहीं हो सकता। गोपीभावसे भगवान्‌की उपासना करनेका अधिकार सभी वैराग्य और प्रेमसम्पन्न जीवोंको है। गोपीभाव न तो केवल स्त्रियोंके ही लिये है, न स्त्रीके-जैसी पोशाक पहनकर स्त्री सजनेकी ही जरूरत है। जरूरत है गोपियोंको आदर्श मानकर उनके-जैसा प्रेमभाव हृदयमें उत्पन्न करनेकी। यह उपासना भावनासिद्ध है, वेषसिद्ध नहीं है। जिसमें ऐसा अपार्थिव निष्काम अनन्य प्रेम होगा, वही गोपी-भावसे उपासना कर सकेगा। परन्तु उपास्य केवल परमात्मा ही होंगे।

गोपीभावके उपासकोंकी धारणामें सभी लोग भावदेहसे प्रकृति हैं और पुरुषप्रधान अप्राकृत नवीनमदन व्रजेन्द्रनन्दन ही सबके एकमात्र पति—परम पति हैं। एक श्रीनन्दनन्दनको छोड़कर वे दूसरे पुरुषकी कल्पना ही नहीं कर सकते। 'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।' इस दिव्य प्रेमराज्यमें श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी भी पुरुषका और श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति भक्तरूप रमणीके सिवा अन्य

किसी नारीका प्रवेशाधिकार या प्रवेश-सामर्थ्य नहीं है। भगवान्की आनन्दमयी शक्तिके इस दिव्य प्रेम-सदनमें दूसरे साधारण नर-नारियोंका प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। इस महामन्दिरमें प्रवेश करनेवालेको दरवाजेपर पहरा देनेवाली सखीको प्रवेशपत्र दिखलाना पड़ता है और श्रीकृष्ण-प्रेम-रसमें डूबी हुई बुद्धिरूपी उस प्रवेशपत्रीको वही प्राप्त कर सकता है जो अपना तन मन-धन प्रियतम प्रभुके अर्पणकर सर्वथा कामनाशून्य होकर, काम-क्रोध-लोभादि विकारोंसे रहित होकर, वैराग्यरूप परम सुन्दर वस्त्रोंको धारणकर दैवी गुणोंके अलङ्कारोंसे सुसज्जित होकर प्रेमकी वेदीपर अपनी बलि चढ़ा देता है—

प्रथम सीस अरपन करे, पाछे करै प्रबेस।
ऐसे प्रेमी सुजनको है प्रबेस यहि देस॥

अतएव इसमें कोई भी मनुष्य कदापि श्रीकृष्ण नहीं बन सकता, चाहे वह महान् आचार्य, उपदेशक, प्रेमी, जीवन्मुक्त या दिव्य भाववाला ही क्यों न समझा जाता हो; अतएव यदि कोई मनुष्य श्रीकृष्ण बनकर गोपी-भावसे उपासना करानेका दावा करे तो उससे सदा दूर रहना चाहिये। खास करके स्त्रियोंके द्वारा गोपीभावसे अपनी उपासनाकी बात कहनेवाले मनुष्यको तो दुराचारी ही मानना चाहिये। साधक पुरुषके लिये तो, स्त्रीकी बात तो दूर रही, स्त्रियोंके संग करनेवालेका संग भी त्याज्य है।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।

(श्रीमद्भागवत)

यह प्रेम अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसमें देवताओंका भी अधिकार

नहीं है। जो भगवान्‌के व्रजरसके रसिक हैं, व्रजभावके भावुक हैं, व्रजप्रेमके प्रेमी हैं, वे भक्त ही इस अत्यन्त उच्च प्रेमरसका पान किया करते हैं। गोपीपदाश्रय करके गोपीभावका अवलम्बन करनेसे ही यह दुर्लभ, कामगन्धहीन, विषयाभिलाषाशून्य, दिव्य प्रेम और प्रेमस्वरूप प्रेमाधार श्यामसुन्दरकी प्राप्ति हो सकती है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

> सेइ गोपीभावामृते जाँर लोभ हय,
> वेद धर्म सर्व त्यजि सेइ कृष्णेरे भजय।
> रागानुरागमार्गे भजे जेइ जन,
> सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

परन्तु प्रेमी वेद-धर्म छोड़ना नहीं चाहता, प्रेमके प्रकट होनेपर वह आप ही छूट जाता है। जो जान-बूझकर छोड़ता है उसका तो पतन ही होता है—

> एक नेम यह प्रेमको नेम सबै छुटि जाहिं।
> पै जो छाड़ै जानिकै तहाँ प्रेम कछु नाहिं॥

यह पन्थ विषयकामियोंका नहीं है, यह मार्ग बाह्य वेषधारियोंका नहीं है। यह तो उन सच्चे त्यागियोंका पावन पथ है जो सारे जगत्‌का मोह और सारी कामनाएँ त्यागकर एकमात्र भगवान्‌को ही भजना चाहते हैं। जिनके हृदयमें भोग-लालसा है उनका इस मार्ग-पर पैर रखना धधकती हुई अग्निमें कूदना या कालसर्पके मुँहमें हाथ देना है—

प्रेम-अमिय पीयो चहै, करै विषय सों नेह।
विष व्यापै, जरै हियो, करै जरजरित देह॥

इसीलिये शुकदेवजी सबको सावधान करते हुए कहते हैं—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्‌मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३१, ३६-३७)

शिवजी हलाहल पी गये, हरेक आदमी नहीं पी सकता; इसी प्रकार भगवान्‌ने यह लीला की, मनुष्य नहीं कर सकता। अत असमर्थ मनुष्योंको भगवान्‌की इस लीलाका अनुकरण कभी मनसे भी नहीं करना चाहिये। यदि कोई मूर्खतावश करेगा तो वह नष्ट हो जायगा। भगवान् तो गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण देहधारियों-के आत्मा हैं, साक्षीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, उन्होंने लीलासे ही शरीर धारणकर अवतार लिया था और जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही उस दिव्य देहसे ऐसी अलौकिक लीलाएँ की थीं जिन्हें सुन करके लोग भगवत्परायण हो जायँ।

अतएव भगवान्‌की अलौकिक लीलाओंका अनुकरण न कर, पवित्र गोपीभावको आदर्श मानकर, अपना सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा सब प्रकारसे भगवान्‌की सेवा

करनी चाहिये और उनका नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक चिन्तन करना चाहिये; भक्त बनना चाहिये, भगवान् नहीं।

जीव भगवान्‌का अंश है, इसलिये इसमें भी आनन्दांश है—ह्लादिनी शक्तिका अंश है। यदि मनुष्य शक्तिके इस अंशको भ्रमसे सुखरूप भासनेवाले अनित्य क्षणभङ्गुर दुःखमय भोगोंसे हटाकर भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य सुखकी ओर लगा दे तो उस अनित्य और भ्रमपूर्ण तुच्छ विषयानन्दके बदले उसे शाश्वत भूमानन्द-प्रेमानन्द मिल सकता है। मनुष्यकी यह आनन्दग्राहिणी शक्ति उन्नत और परिष्कृत होनेपर कैतवशून्य और कामगन्धशून्य होकर केवल श्रीकृष्ण-सौन्दर्य-माधुर्य-रसास्वादनके लिये लालायित हो उठती है, परन्तु जबतक जीवकी यह आनन्दग्राहिणी शक्ति विषयभोगोंमें डूबी रहती है तबतक इसकी कृष्णाभिमुखी गति नहीं होती। इसलिये विषयानुरागको विषवेलिके समान त्यागकर सदा-सर्वदा परम श्रद्धाके साथ श्रीराधा-कृष्णकी लीलाका श्रवण, कीर्तन करते-करते और श्रीकृष्ण-की किसी प्रेममयी सखीको गुरु बनाकर उसके आज्ञानुसार श्रीकृष्ण-लीलाका ध्यान करते-करते तन-मनकी सुधि भुलाकर प्रेममें तन्मय हो जाना चाहिये।

गोपी-प्रेमका यह इधर-उधरसे संग्रह किया हुआ वर्णन सर्वथा रसहीन हुआ है। गोपी-प्रेम दिव्य रस-पूर्ण है। उस रसको साधारण मनुष्य कहाँसे प्राप्त करे। और वाणी या लेखनी कैसे उसका वर्णन करे? हमलोगोंको उचित है कि परम प्रेममयी गोपिकाओंके चरण-वन्दनकर उनसे प्रेमकी भिक्षा माँगें और उनके प्यारे श्यामसुन्दरके नाम-गुणोंका

गानकर जन्म-जीवनको सफल करे। श्रीललितकिशोरीजी कहती हैं—

> रुचिकर सँवार नाहिं अंग-अंग स्यामा-स्याम,
> पेरी धिक्कार और नाना कर्म कीबेपै।
> पायनको धोइ निज करन ना पान कियो,
> आली अगार परैं सीतल जल पीबेपै॥
> विचरे ना वृंदावन कुंज-लतान तरे,
> गाज गिरै अन्य फुलवारी-सुख लीबेपै।
> ललितकिसोरी बीते बरष अनेक, दृग,
> देखे ना प्रानप्यारे, छार ऐसे जीबेपै॥

श्यामसुन्दर आज भी है, उनकी लीला भी नित्य है। परन्तु हमें वे श्यामसुन्दर कैसे दीखें और हमें उनके चरण धोनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हो? नित्य-निरन्तर निष्काम प्रेमभावसे उनका नाम जपना, उनके गुणोंका कीर्तन करना, उनके प्रेमी भक्तोंका संग करना, उनके अनुकूल कार्य करना, उनके आज्ञानुसार चलना, उनके प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहना, जगत्‌का मोह छोड़कर उनकी रूपमाधुरीपर न्योछावर होनेकी साधना करना, उनकी लीलाओंका मनन करना और प्राण खोलकर, हृदयके अन्तस्तलसे उनको पानेके लिये रोना—यही सब उपाय हैं। यदि चाहते हैं तो विषयासक्ति छोड़कर इन उपायोंका अवलम्बन कीजिये। करते-करते आप ही भावोंका विकास होगा और श्रीकृष्ण हमें सर्वस्वरूपमें मिल जायँगे। बोलो गोपी और गोपीनाथके पदपद्मपरागकी जय!



चार प्रश्न

मेरे एक मित्रने चार प्रश्न किये हैं। प्रश्न बडे मार्मिक हैं। ऐसे प्रश्नोंका उत्तर वास्तवमें अनुभवी पुरुष ही दे सकते हैं, मुझ-जैसा प्राणी क्या कह सकता है, परन्तु मित्र महोदयने मुझसे ही उत्तर चाहा है, इसलिये बड़ी ही नम्रताके साथ मैं सक्षेपमें इन विषयोपर कुछ लिख रहा हूँ। अनुभवी और विद्वान् महानुभाव इस धृष्टताके लिये क्षमा करें और भूल-चूक सुधारकर अनुगृहीत करें। प्रश्न ये हैं—

१—भगवान्‌की शरण प्राप्त होनेके लिये प्रतिदिन जो नियमित प्रार्थना की जानी चाहिये, उस प्रार्थनाका स्वरूप क्या है तथा वह किस विधिसे करनी चाहिये ?

२—भगवान्‌की अपरिमित शक्ति और प्रभावका स्पष्ट सुविस्तृत वर्णन कीजिये ?

३—भगवान्‌का सर्वव्यापी भाव किस प्रकार दृढ़ हो सकता है? मनुष्य चराचर विश्वमें विश्वात्माकी भावना कैसे करे? नयनाभिराम प्यारे रामको आरामके प्रत्येक पत्र, पुष्प और कलियोंमें किस साधनसे देखने लगे?

४—ऐसा एक भी क्षण न बीतना चाहिये, जिसमें प्रियतमका स्मरण न हो, इस प्रकारकी स्थितिका साधन क्या है?

क्रमसे इनके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(१) शरण-प्राप्तिके लिये प्रार्थना

भक्तोंके लिये भगवान्‌की शरण प्राप्त कर लेना ही परम ध्येय है, प्रभुके चरणोंमें सब प्रकारसे अपनेको समर्पण कर भक्त नित्य निर्भय और सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं; इससे परे वे अपना कोई भी कर्तव्य नहीं समझते। वे भगवान्‌के हाथका यन्त्र बनकर संसारमें निःस्पृह और निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते हैं, उन्हें गति-अगति, स्वर्ग-नरक, लाभ-हानि, जीवन-मृत्यु, लोक-परलोक, त्याग-भोग आदिकी कुछ भी परवा नहीं होती; वे किसी बातकी चिन्ता और किसी अन्य विषयका मुख्य-रूपसे कभी चिन्तन नहीं करते; उनका चित्त परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहता है, वे परमात्माके प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहते हैं उनकी प्रत्येक चेष्टा परमात्माके इच्छानुकूल होती है, वे कामनाशून्य हो जाते हैं, उनका मन परमात्माके मनमें और उनकी बुद्धि परमात्माकी बुद्धिमें विलीन हो जाती है। इस स्थितिको मनुष्य अपने पुरुषार्थ या साधनके बल-से कभी नहीं पा सकता। मन-वाणीकी समस्त क्रियाएँ परमात्माकी इच्छामे

अनुकूल करनेकी चेष्टा प्राणपणसे करते रहनेपर भी शरणागतिका साधक उन क्रियाओंका आश्रय नहीं लेता। कारण, किसी भी क्रिया या साधनसे भगवत्-शरणकी प्राप्ति नहीं होती, भगवान्‌की शरण तो केवल भगवत्कृपा-से ही प्राप्त होती है। यद्यपि भगवत्कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा समानरूपसे है, उसमें विषमता नहीं है, परन्तु उससे पूरा लाभ उठानेके लिये उसको पहचाननेकी आवश्यकता होती है। भगवत्कृपाकी पहचान—सच्ची पहचान—भगवान्‌की आर्त्त-प्रार्थनासे होती है। इसलिये प्रार्थना मनुष्यके जीवनका एक परम आवश्यक कर्तव्य होना चाहिये। प्रार्थनासे बड़े-बड़े असाध्य कार्य साध्य बन जाते हैं, सारी कठिनाइयों आसानीसे दूर हो जाती हैं। भगवान्‌ने स्वयं घोषणा की है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गीता १८। ५८)

'मुझमें चित्त लगानेपर मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तू आप ही तर जायगा, अतएव प्रार्थनाका अर्थ है भगवान्‌में चित्त जोड़ना, प्रतिदिन नियत समयपर भगवान्‌के गुणगान करना, अपने दिलको खोलकर भगवान्‌के सामने रखना, अपनी टूटी-फूटी भाषामें या केवल मूक रहकर ही उनकी कृपा-भिक्षा चाहना। प्रार्थनामें सबसे अधिक आवश्यकता है सच्चे और साफ दिलकी, इसमें दम्भको बिलकुल ही स्थान नहीं है, दम्भहीन चित्तसे की हुई आर्त्त-प्रार्थनाका उत्तर बहुत ही शीघ्र मिलता है। जिन्हें सुन्दर श्लोक या पद न आते हों, उन्हें प्रार्थनाके लिये उनकी आवश्यकता नहीं है। परमात्माके सामने मनुष्यमात्र अपनी भाषामें अपना भाव प्रकट कर सकते हैं। संत-भक्तोंके या सत्-शास्त्रोंके करुणो-

त्पादक श्लोक और भजन याद हो तथा सुरीले स्वरोंसे तच्चित्त होकर गाये जायँ तो उनसे भी बहुत लाभ होता है। एक घंटेकी प्रार्थनामे साधारणतः चार भाग किये जा सकते हैं—

१५ मिनट—स्तुति-गान (श्लोक-पद आदि)।

१५ मिनट—ध्यान।

१५ मिनट—अपनी भाषामें अपने मनकी बात भगवान्‌के प्रति कहना और उनकी कृपाभिक्षा चाहना या केवल मूक रहकर मन-ही-मन प्रार्थना करना।

१५ मिनट—नामकीर्तन करना या गीता, भागवत, रामायण आदि-के किसी करुणोत्पादक प्रसंगको पढ़ना।

प्रार्थनाका समय और स्थान जहाँतक हो, एक नियत होना चाहिये। स्थान एकान्त हो और समय भी ऐसा हो जिसमे दूसरे कामके लिये कुछ भी सोचने या बीचमें उठनेका प्रयोजन न रहे। सुभीता हो तो एकान्तमें आधी रातके बादका समय अच्छा रहता है। प्रार्थनाके समय चित्तमें सरलता और आर्त्तता अवश्य रहनी चाहिये। ऊपर लिखी चारों बातोंका क्रम ठीक-ठीक न रहे तो भी कोई आपत्ति नहीं, प्रार्थनाके समय ऐसा निश्चय अवश्य होना चाहिये कि 'भगवान् साक्षात् यहाँपर मौजूद हैं और मै अपनी प्रत्येक क्रिया उनके सामने कर रहा हूँ। उन परम दयालुकी मुझपर बड़ी भारी दया है। वे शीघ्र ही मुझे अपनी शरणमें अवश्य ले लेंगे। उनकी शरण प्राप्त होते ही मैं सदाके लिये पूर्ण निर्भय और निश्चिन्त होऊँगा।' मेरे विश्वासके अनुसार ऐसी नियमित प्रार्थनासे बहुत ही थोड़े कालमें भगवत्-शरणको प्राप्त करके मनुष्य कृतार्थ हो सकता है।

(२) भगवान्‌की अपरिमित शक्ति और प्रभाव

भगवान्‌के स्वरूप, उनकी अपरिमित शक्ति और उनके प्रभावका यथार्थ वर्णन न कोई आजतक कर सका है, न कर सकता है और न कर सकेगा। भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव और उनकी शक्तिको वे आप ही जानते हैं। जगत्‌में वेद, शास्त्र और संतोंद्वारा अबतक भगवान्‌का जितना वर्णन हुआ है, वह सारा-का-सारा एक जगह मिला लिया जाय तो भी उसमें भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ और पूरा वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि उनका पूरा ज्ञान बुद्धिके बलपर किसीको हो ही नहीं सकता, जो संत-महात्मा भगवान्‌की कृपासे श्रद्धाबलसे भगवान्‌के रहस्यको कुछ जानते हैं, वे भी वाणीसे उसका वर्णन नहीं कर सकते। जब वेद 'नेति-नेति' कहकर हार मान जाते हैं, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? पुष्पदन्ताचार्यने क्या ही सुन्दर कहा है—

> असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
> सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
> तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

'समुद्रकी दावात हो, उसमें कज्जलगिरिकी स्याही बनाकर भरी जाय, कल्पवृक्षकी शाखा कलम बने, पृथ्वीका कागज बनाया जाय और सरस्वती निरन्तर लिखती रहें, तो भी हे प्रभो! आपके गुणोंका पार नहीं आता।'

समुद्रके जलकण गिने जा सकते हैं, आकाशका विस्तार नापा जा सकता है, परन्तु परमात्माके प्रभाव, रहस्य और स्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह समस्त जगत् परमात्माकी मायाके एक

अंशमें स्थित है—'*एकांशेन स्थितो जगत्।*' फिर इस जगत्में उत्पन्न एक साधारण प्राणी जगत्के अधिष्ठान परमात्माका पूरा और यथार्थ वर्णन कैसे कर सकता है? तथापि अपने-अपने जीवन और अपनी-अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये संत-महात्मा भगवान्‌का गुणगान गाते ही जीवन बिताया करते हैं, क्योंकि उनके गुण ऐसे ही हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश, वायु, समुद्र, अग्नि, जल आदि निरन्तर परमात्माकी महिमाका ही तो गान कर रहे हैं। यह सृष्टि-वैचित्र्य उन्हींका तो प्रभाव बतला रहा है। यह भीषण संहारलीला परमात्माकी शक्तिका ही तो परिचय दे रही है। चराचर प्राणियोंकी प्रत्येक चेष्टा सतत उस परमात्माका ही तो गुण गा रही है। सारे ब्रह्माण्डमें उन्हींका तो स्वरूप प्रस्फुटित हो रहा है। अनादिकालसे अबतकका इतिहास उन्हींकी शक्तिके एक परमाणुका ही तो इतिहास है। फिर उनकी महिमा कौन बतावे? उनके प्रभावका वर्णन कैसे हो? स्वयं अपना प्रभाव बतलाते हुए गीतामें अर्जुनके प्रति श्रीभगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ९।४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ९।५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ९।६॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ९।८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ । ९ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ ९ । १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ९ । १८ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ ४ । १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ ५ । १४ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ । ७ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ७ । १४ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ १० । २ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ १० । ४२ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ १४ । २७ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ । १५ ॥

योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १५। १९॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८। ६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८। ६६॥

'हे अर्जुन! मेरे अव्यक्तस्वरूपसे यह सारा जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) परिपूर्ण है, समस्त भूत मेरे अंदर (मेरे संकल्पके आधारपर) स्थित हैं, (अतएव वस्तुतः) मैं उनमे अवस्थित नहीं हूँ। और (असलमे) वे सब भूत भी मेरे अंदर स्थित नहीं हैं, (यह तो मेरा प्रभाव है) तू मेरे इस योगके प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा (वस्तुतः) भूतोंमें स्थित नहीं है। जैसे (आकाशसे उत्पन्न) सर्वत्र विचरण करनेवाला महान् वायु नित्य ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही (मेरे संकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण ये) समस्त भूत भी मुझमें स्थित हैं, ऐसा जानना चाहिये। (मैं ही) अपनी त्रिगुणमयी मायाको लेकर बलात्कारसे प्रकृतिके अधीन हुए इन समस्त भूतोंको पुन.-पुन (इनके कर्मानुसार) रचता हूँ। (यह सारा रचना-कार्य करनेपर भी) हे अर्जुन! कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनवत् स्थित मुझ परमात्माको कर्म बाँध नहीं सकते। इस सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठाता और कर्म-फल-दाता एवं पिता-माता-पितामह (सब कुछ) तथा जाननेयोग्य पवित्र ओंकार, ऋक्, साम और यजुर्वेद, सबकी गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका प्रभु सबका (नित्य) साक्षी, सबका निवासस्थान, सबका शरण्य, सबका सुहृद्, सबका

उत्पादक, सबका संहारक, सबको अपने अंदर समा लेनेवाला खजाना और सबका अविनाशी बीज मैं ही हूँ। गुण-कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण मैंने ही रचे हैं, तो भी उनके रचयिता मुझ अव्यय परमात्माको तू अकर्ता ही समझ (क्योंकि वास्तवमें मैं) प्रभु न तो लोकोंकी रचना हूँ और न कर्तापन, कर्म और उनके फल-संयोगकी ही रचना हूँ, (मुझ परमात्माकी सत्तासे) प्रकृति ही प्रवृत्त होती है, यानी गुण ही गुणोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। (वास्तवमें तो) हे धनंजय ! मेरे अतिरिक्त दूसरी चीज कुछ है ही नहीं, यह सारा जगत् सूतमें (सूतके) मणियोंकी भाँति (एक) मुझमें ही गुँथा हुआ है। (मेरी मायाके वशमें होनेके कारण लोग इस तत्त्वको जानते नहीं) क्योंकि मेरी यह त्रिगुणमयी अलौकिक माया बड़ी ही दुस्तर है, जो पुरुष (केवल) मुझको ही भजते हैं, वे ही इस मायासे पार जाते हैं। मेरे प्राकट्यको न तो देवता जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं, क्योंकि मैं सम्पूर्ण देवों और महर्षियोंका आदिकारण हूँ। (कारणको कार्य कैसे जान सकता है ?) अथवा हे अर्जुन ! तुझे अधिक जाननेसे प्रयोजन ही क्या है ? (तू इतनेहीमें समझ ले कि) मैं ही इस सारे जगत्को (अपनी मायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ, मतलब यह कि जगत् मेरी मायाके एक अंशमें स्थित है। अविनाशी ब्रह्म, अमृत, शाश्वत धर्म और केवल अखण्ड आनन्दका आश्रय मैं ही हूँ। सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी और सञ्चालकरूपसे मैं ही स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य (परम तत्त्व) मैं ही हूँ और मैं ही वेदान्तका कर्ता तथा वेदोंका जाननेवाला भी हूँ। हे भारत !

इस प्रकार मुझको जो विद्वान् पुरुषोत्तम जानता है, वही समस्त रहस्यका यथार्थ जाननेवाला पुरुष सर्वभावसे मुझे भजता है। (अतएव) तू मुझमे ही दृढ़ताके साथ मनको लगा ले, केवल मेरा ही भक्त हो जा, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझको ही नमस्कार कर, फिर तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ क्योंकि तू मुझे (अत्यन्त) प्रिय है। (बस) सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरण हो जा, मै तुझे समस्त पापों-से—बन्धनोंसे आप ही छुडा दूँगा। तू शोक न कर।'

ये भगवान्‌के प्रभावको बतलानेवाले श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ श्लोक हैं। इनके सिवा अन्यान्य असंख्य ग्रन्थोंमे ऐसे अनेक वचन हैं। परन्तु केवल इन भगवद्वाक्योंसे भी उनके यथार्थ स्वरूपका और प्रभावका पता नहीं लगता। गीता बहुत लोग पढ़ते हैं परन्तु ऐसे कितने है जो उनका यथार्थ मर्म समझते हैं, यदि सभी समानभावसे उनका रहस्य समझ जाते तो इतने भाष्य और टीकाएँ लिखी ही नही जाती। भगवान्‌के प्रभावका यत्किञ्चित् पता उन्हींको लग सकता है जो भगवत्कृपाका आश्रय ग्रहण कर चुके हैं। जिनकी मायिक सृष्टिके एक-एक पदार्थके चमत्कारका तथा जिनकी सृष्टिमे उत्पन्न एक-एक मनुष्यके अद्भुत कर्मोंके रहस्यका भी जब पूरा पता सबको नहीं लगता और कोई उनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता तब मायानटीके अधीश्वर मायातीत सच्चिदानन्दघन परमात्माका प्रभाव और रहस्य कौन जान सकता है ? जो वस्तु हमारी बुद्धिद्वारा जाननेमें ही नही आती, उसका वर्णन वाणी कैसे करे ? अचिन्त्य परमात्माकी

अपरिमित शक्ति और प्रभावका वर्णन इतनेसे ही समझ लेना चाहिये कि उनका वर्णन कोई कर नहीं सकता। उन्हींकी कृपासे कभी किसीके कुछ समझमें आता है और जिसकी समझमें आता है, वह फिर कुछ भी कह नहीं सकता। उसका कहना-सुनना सदाके लिये बंद हो जाता है—

(३) भगवान्‌की सर्वव्यापकता

भगवत्कृपासे भगवान्‌के प्रभावका किञ्चित् पता लगनेपर उनका सर्वव्यापी भाव आप ही हृद्गत हो सकता है। भगवान्‌का सर्व-व्यापक भाव वाणीसे नहीं कहा जाता, उसके लिये जितने दृष्टान्त दिये जाते हैं उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो पूर्णरूपसे समानता रखता हो। रक्खे भी कैसे? उस सर्वव्यापी सत्-चित्-आनन्दघन *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* की तुलनाका कोई पदार्थ है ही नहीं। पाँच भूतोंमें चारका आधार आकाश है, अतः व्यापकताके लिये उसीका दृष्टान्त दिया जाता है, कहा जाता है कि जैसे जगत्‌के सब नगर-घर-मकान आकाशमें हैं और सबके ही अंदर आकाश है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक हैं, परन्तु यह दृष्टान्त सर्वथा अपर्याप्त है, क्योंकि आकाश अनित्य है, शून्य है, विनाशी है, इसके विपरीत परमात्मा नित्य हैं, घन हैं और अव्यय हैं। आकाश समष्टि-अहङ्कार-के एक अंशमें है, परन्तु परमात्मा उस मायाके भी आधार हैं, जिस मायाके एक अंशमें महत्तत्त्व है, और उस महत्तत्त्वके एक अंशमें समष्टि-अहङ्कार है। स्वप्नके दृष्टान्तसे भी परमात्माका सर्वव्यापक भाव पूरा नहीं घटता। कहा जाता है कि जैसे स्वप्नमें द्रष्टा पुरुष ही

अपने सङ्कल्पसे अनेक दृश्य उत्पन्न कर उनके दर्शन करता है; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन तीनोंमें वह एक ही व्याप्त रहता है, इसी प्रकार परमात्मा भी सर्वव्यापक हैं, परन्तु यह दृष्टान्त भी अधूरा है। कारण, स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वप्नमे स्वप्नकी सृष्टिको कल्पित नहीं जानता, वह चेतन होनेपर भी वहाँ अज्ञानी है, वह उसे देखकर मोहित होता है, डरता है, हर्षित होता है, नाना प्रकारके भावविकारोंमे ग्रस्त होता है; परन्तु इसके विपरीत परमात्मा किसी कालमे विकारी नहीं होते। वास्तवमे परमात्मामे कालकी कल्पना भी नहीं है, वे शुद्ध और कालातीत हैं। काल तो मायामे है।

इसी प्रकार अन्यान्य जितने दृष्टान्त हैं वे सभी केवल परमात्माका लक्ष्य करानेवाले हैं। वास्तवमे तो परमात्माको छोड़कर जब अन्य वस्तु ही नहीं, तब उनका सर्वव्यापक भाव भी कहनेको ही है। 'सर्व' कोई पृथक् वस्तु हो तो वे 'सर्व' मे व्यापक हों। वह तो एक ज्ञानस्वरूप, सत्स्वरूप, परम आनन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा-ही-परमात्मा है। इन परमात्माका ज्ञान भी परमात्मामें ही है। इन परमात्माके आनन्दका बोध भी आनन्दस्वरूपमे ही है। वे परम सत्य, परम नित्य, सनातन, एक असीम, अनन्त, अपार, अखण्ड और केवल हैं। बुद्धि, अहङ्कार, मन, इन्द्रियाँ, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि समस्त उनमें आरोपित हैं, एक चेतन ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। जिसे ससार कहा जाता है, वह भी वस्तुतः चिन्मय—आनन्दमय परमात्मा ही हैं। सत्-असत् वही परमात्मा हैं। देश, काल भी वही चेतन हैं। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान भी वही विज्ञानानन्दघन चेतन ही है। इस

स्थितिमें तो कुछ कहना-सुनना बनता ही नहीं, यह तो अनुभव है। अनुभव भी नहीं कहा जा सकता। कारण, अनुभव भी तो किसी वस्तुका किसीको होता है, यहाँ तो एकके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं, तब किसका अनुभव किसको हो? इसीसे कहा जाता है, ब्रह्म अनिर्वचनीय और अनिर्देश्य है! जहाँ ब्रह्म है, वहाँ वचन और निर्देश नहीं है एवं जिसके लिये वचन और निर्देश है वह ब्रह्म नहीं है। वहाँ नाम-रूपकी कोई भी उपाधि नहीं है। सर्वव्यापक भावका निर्देश वहीं है, जहाँ परमात्मा और विश्वकी अलग-अलग कल्पना है, फिर चाहे वह विश्व परमात्माकी ही अभिव्यक्ति हो और वास्तवमें है भी ऐसा ही। हम विश्वमें जिन सब वस्तुओंको देखते-सुनते है, वे सभी भिन्न-भिन्न रूपोंमें एक ही परमात्माका दर्शन कराती हैं। एक ही अविनाशी परमात्मा अनेक रूपोंसे अपना दर्शन देते है। हमारी आँखोंपर अज्ञानका पर्दा पड़ा हुआ है इसीलिये हम उन्हे देखते हुए भी नहीं देखते। सोनेके भाँति-भाँतिके हजारों गहनोंमें एक ही सोना है। गहना सामने आते ही सोना पहले दीखता है, गहना पीछे, परन्तु हमें सोना याद नहीं रहता, हम उसे गहना ही समझते हैं, इसी प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुमें परमात्मा ही अधिष्ठान-रूपसे विराजित हैं, परमात्माकी सत्तासे ही जगत्की सत्ता है, परमात्माके सर्वप्रथम दर्शनसे ही जगत्के पदार्थोंके दर्शन होते हैं। परमात्माके सदृश प्रत्यक्ष वस्तु तो और कोई वास्तवमें है ही नहीं। आँखोंमे वे हैं, देखते वे हैं, देखनेकी वस्तु वे है। उनका सर्वव्यापक भाव तो अत्यन्त सुस्पष्ट है। हम उपाधिको देखते हैं, नाम-रूपको टटोलते

हैं। आधारस्वरूप परमात्माकी सत्ताको नहीं देखते, जिनकी सत्तासे नाम-रूपकी सत्ता है। यथार्थमें तो नाम-रूप भी परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जबतक उनकी पृथक् कल्पना है तबतक उन्हें उपाधि मानकर ऐसा ही कहा जाता है। भागवतमें कहा है—

> खं वायुमग्निं सलिलं मही च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
> (११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी (सूर्य-चन्द्र आदि) नक्षत्रगण, पशु-पक्षी आदि प्राणी, दिशाएँ, लता-वृक्षादि, नदियाँ तथा समुद्र आदि जो कुछ (स्थावर-जंगम) जगत् है, वह सब श्रीहरिका ही शरीर है। इस प्रकार सबमें परमात्मा समझकर अनन्यभावसे सबको प्रणाम करे।'

इस प्रकारका निश्चय दृढ़ हो जानेपर हम सारे चराचर विश्वमें विश्वात्माके दर्शन कर सकते हैं। यह भावना नहीं, सत्य तत्त्व है। जब मायाके कारण परमात्मासे भिन्न भासनेवाले जगत्की आरोपित वस्तुओंमें सत्यता प्रतीत होती है, तब सत्यमें सत्यका आरोप तो सत्य दीखना ही चाहिये। अवश्य ही इसके लिये शुद्ध अन्तःकरणसे अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। अभ्यास दृढ़ हो जानेपर सबमें रमण करनेवाले रामकी सर्वव्यापक एकरस दिव्य छवि आरामके

प्रत्येक पत्र, पुष्प और कलिकाओंमें प्रत्यक्ष दीखने लगेगी। पत्र, पुष्प और कलियोंमें ही नहीं, वाटिकाकी सुहावनी भूमिके प्रत्येक कणमें, चन्द्रकी निर्मल ज्योत्स्नाके प्रत्येक परमाणुमें, सूर्यकिरणोंके एक-एक अणुमें, वायुके प्रत्येक हिलोरेमें, सभी जगह, सभी समय, सर्वथा एक रामकी ही आराम देनेवाली रम्य झाँकी होगी। उपाय यही है कि पहले रामको देखो, फिर आरामको, पहले कारणको देखो, फिर कार्यको, पहले भगवान्‌को देखो, फिर जगत्‌को। ऐसा करते-करते आराम राम बन जायगा, कार्य कारण बन जायगा और जगत् भगवान् बन जायगा। बन नहीं जायगा, यथार्थमें ऐसा ही है। भ्रमका पर्दा फट जायगा जिससे यथार्थ दर्शन सुलभ हो जायँगे।

(४) प्रियतमका नित्य-स्मरण

परमात्माको 'प्रियतम' जान लेनेपर वास्तवमें एक भी क्षण ऐसा नहीं बीतेगा, जिसमें उनका स्मरण न हो। भूल इसीलिये होती है कि हम उन्हें प्रियतम नहीं मानते। उन्हें प्रियतम माना था गोप-रमणियोंने, जो आधे क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरको हृदय-मन्दिरसे दूर नहीं कर सकती थीं। श्यामसुन्दरको बाध्य होकर गोपियोंकी नजरोंके सामने ही सदा थिरक-थिरककर नाचना पड़ता था, इसी सत्य तथ्यके आधारपर यह कहा गया है कि—'*वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति*' श्यामसुन्दर वृन्दावनको छोड़कर एक पल भी कहीं नहीं जाते। जाते हों, गये हों, परन्तु गोपियोंकी दृष्टिमें तो नहीं गये, उनके श्यामसुन्दर तो नित्य उनके साथ हैं, चौबीसों घंटोंके उनके सहचर हैं। इसका कारण क्या था, यही कि गोपियोंने

उन्हें 'परम प्रियतम' मान लिया था, उनके लिये वे इहलोक-परलोक सबका सारा सम्बन्ध त्याग कर चुकी थी। अपनी प्यारी-से-प्यारी सभी वस्तुएँ वे श्रीकृष्णके चरणोंमें सदाके लिये समर्पण कर चुकी थीं, फिर वे उन्हे कैसे भुलाती? 'प्रियतम' अहा! कितना प्रिय शब्द है! प्रियतम तो कभी चित्तसे बिसारा ही नहीं जा सकता। कहा है कि तीनों लोकोंके वैभवकी प्राप्तिका लालच मिलनेपर भी प्रभुको 'प्रियतम' माननेवाले उनके प्रियजन आधे निमेषके लिये प्रभुके चरणकमलोंको नहीं भूल सकते।

'प्रियतम' के प्यारे जन सब जगह उसीकी झाँकी देखते है, उसीके शब्द सुनते हैं, उसीसे बातें करते हैं और उसीका चिन्तन करते हैं। उसके सामने जगत्की या जगत्के किसी पदार्थकी याद उन्हें कभी भूलकर भी नहीं आती।

भगवान्को 'प्रियतम' बनानेभरकी देर है, फिर तो जगत्की कीमत कुछ रह ही नहीं जायगी। राज-पाट, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, मान-इज्जत, जीवन-मरण, लोक-परलोक, स्वर्ग-मोक्ष सभी कुछ उस प्रियतमके प्रेम-प्रवाहमें बह जायँगे। फिर वह श्रीश्रीचैतन्यके शब्दोंमे गा उठेगा—

न धनं न जनं न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

जिसमें प्रेम होता है, उसमें चाहे एक भी सद्गुण न हो, चाहे वह दुर्गुणोंकी खानि हो, प्रेमीका हृदय उसके गुणोंको नहीं देखता, वहाँ माप-तौल नहीं होता, वहाँ तो हृदय सदाके लिये

निछावर किया हुआ रहता है। जब सद्गुणहीन और दुर्गुणोंके प्रति भी सच्चे प्रेमीका प्रेम अटूट और सतत वर्धमान ही रहता है, तब परमात्माको, जो सर्वसद्गुणोंके आधार हैं, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम आदिका अशेष खानि हैं, प्रेमास्पद बना लेनेपर उनका निरन्तर चिन्तन हुए बिना कैसे रह सकता है? बुरे विचारसे पर-पुरुषका पर-स्त्रीमें या पर-स्त्रीका पर-पुरुषमें प्रेम हो जाता है, (जो वास्तवमें प्रेम नहीं है) तो उसमें भी एक दूसरेका स्मरण कभी नहीं छूटता, उठते-बैठते, सोते-जागते स्मृति बनी ही रहती है, जब लोभी आदमी भगवान्के मन्दिरमें बैठकर गीता सुनता हुआ भी मन-ही-मन धनकी टोहमें रहता है, तब भला, परम प्रेमार्णव, परम लोभनीय परमात्माको प्रियतम बना लेनेपर वे कैसे भुलाये जा सकते हैं?

परमात्माके स्मरणका तार कभी न टूटे, इसके लिये हमें परमात्माको प्रियतम बनाना चाहिये। जबतक जगत्की वस्तु प्यारी लगती है, जगत्के पदार्थोंके लिये हम परमात्माको भूलते हैं, तबतक हमारे मन परमात्मा 'प्रियतम' नहीं हैं। उन्हें प्रियतम बनानेके साधन हैं—उनके प्रभावको सुनना-जानना, उनकी दिव्य सगुण लीलाओंका निरन्तर श्रवण, मनन और गान करना, उनके परम पावन नामका जप करना, उनके सर्वोपरि सर्वाधार दिव्य स्वरूप, गुण, धाम, ऐश्वर्य माधुर्य, सौन्दर्य, कारुण्य, सख्य, वात्सल्य, स्वामित्व, प्रेम आदि महान् गुणोंका बारबार चिन्तन करना और उनकी कृपापर परम और अटल विश्वास रखना।



भगवत्-शरणागति

इहलौकिक और पारलौकिक दुःखोंसे छुटकारा पाकर नित्य अखण्ड परमानन्दकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की शरणागति ही मुख्य उपाय है। जिसने एक बार सर्वभावसे अपनेको परमात्माके चरणोंमें अर्पण कर दिया, वह सदाके लिये निर्भय, निश्चिन्त और परम सुखी हो जाता है। उसके योगक्षेमका समस्त भार भगवान् वहन करते हैं। स्वयं केवट बनकर उसकी जीवनतरणीको भीषण संसार-सागरकी उत्ताल तरङ्गोंसे बचाकर सुरक्षितरूपसे परमानन्दमय धाममें पहुँचा देते हैं, उसे किसी प्रकारकी चिन्ता या चाह करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु यह शरणागति क्या वस्तु है और कैसे होती है इसपर विचार करना है। शरणागति केवल शब्दोंसे नहीं होती। अथवा यों समझकर चुपचाप निकम्मा हो बैठनेका नाम भी शरणागति नहीं है कि 'मैं तो उसकी शरण हो गया, मुझे अब किसी कामके लिये हाथ-पैर हिलाने या समझने-सोचनेसे क्या प्रयोजन है? वह आप ही सब ठीक कर देगा, मेरा तो कोई कर्तव्य नहीं है।' यदि यही शरणागति होती तो प्रत्येक आलसी और तमोभिभूत प्रमादी मनुष्य ऐसा कह सकता था।

शरणागतिमें क्रियाके त्याग करनेका तो प्रश्न ही नहीं है। शरणागत भक्त तो अपने 'अहं' को और उस 'अहं' से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावको परमात्माके अर्पण कर देता है, फिर उसका जीवन परमात्माकी रुचिका जीवन, उसका मन परमात्माकी रुचिका मन, उसकी बुद्धि परमात्माकी बुद्धि बन जाती है और उसकी सारी क्रियाएँ परमात्माके मनोनुकूल होने लगती हैं। अबतक तो वह समझता था कि यह संसार मेरा है और इसमें काम करनेवाला मैं हूँ, शरणागत होनेके बाद वह समझने लगता है, सारा संसार परमात्माका है, स्थूल-से-स्थूल, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ सभी उसके हैं और उसमें जो कुछ क्रिया होती हुई दृष्टिगोचर होती है सो सभी परमात्माकी दिव्य लीला है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ जो वास्तवमें उन्हींका हूँ और वह परमात्मा अपने ही एक पदार्थको निमित्त बनाकर अपने इच्छानुसार अपने आपमें ही अपने विनोदके लिये अपने आप ही अपनी लीला कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ उन्हींकी सामग्री है। उनकी सामग्री भी कोई उनसे भिन्न वस्तु नहीं है, वह इन सामग्रियोंके रूपमें अपने आपको प्रकाशित कर रहे हैं। खेल, खिलाड़ी और खिलौने तीनों ही मूलमें और क्रियामें भी एक ही हैं, व्यावहारिक स्थूलदृष्टिसे भेद प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार 'अहं' और 'मम' का मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर तथा समस्त प्रपञ्चसहित सर्वभावसे समर्पण ही यथार्थ शरणागतिका स्वरूप है।

इस शरणागतिकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये क्रमशः शरीर, वाणी, मन और बुद्धिसे अपनेको परमात्माके अर्पण करना पड़ता है।

शरणागतिकी पहचान यही है कि साधक ज्यों-ज्यों शरणागतिके सुख-शान्तिमय, सर्वतापहर, शीतल प्रदेशमें प्रवेश करता है त्यों-ही-त्यों उसमें निर्भयता और निश्चिन्तताकी वृद्धि होती है। स्नेहमयी जननीकी गोदमें आकर शिशु निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है, इसी तरह सर्व सच्चिदानन्दरूपा इस स्नेह-सुधा-समुद्रमयी जगज्जननी-की महामहिमामयी क्रोडमें आश्रय पाकर साधक निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। उसे फिर कहीं कोई भय नहीं रहता और किसी भी वस्तुकी या किसी भी गतिविशेषकी चाह नहीं रहती। प्रभुके हाथोंमें अपनेको सौंप देनेके बाद भय, चिन्ता और चाह कैसी ?

इस शरणागतिके साधनमें साधकको चार बातोंपर विशेष ध्यान रखना पड़ता है, आगे चलकर तो ये चारों उसके स्वाभाविक ही हो जाती हैं।

१—जिस परमात्माकी शरण ग्रहण की है उस परमात्माका निरन्तर स्मरण रखना।

२—उसकी इच्छा या आज्ञानुसार जीवन बना लेना।

३—वह जो कुछ भी विधान करे उसीमें परम सन्तुष्ट रहना यानी उसकी कृपासे प्राप्त होनेवाली प्रतिकूल-से-प्रतिकूल स्थितिमें भी उसकी मङ्गलमयी इच्छा समझते ही अनुकूलताका प्रतीत होना।

४—किसी भी पदार्थकी चाह न रखना।

ये भाव जितने-जितने बढ़ें, साधक उतना ही परमात्माकी शरणमें अग्रसर हो रहा है, ऐसा समझना चाहिये।



रामायण हमें क्या सिखाती है

१–शुद्ध सच्चिदानन्दघन एक परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है और अखिल विश्व एवं विश्वकी घटनाएँ उसीका स्वरूप और लीला हैं।

२–परमात्मा समय-समयपर अवतार धारण कर प्रेमद्वारा साधुओं-का और दण्डद्वारा दुष्टोंका उद्धार करनेके लिये लोककल्याणार्थ आदर्श लीला करते हैं।

३–भगवान्‌की शरणागति ही उद्धारका सर्वोत्तम उपाय है। उदाहरण—विभीषण।

४–सत्य ही परम धर्म है, सत्यके लिये धन, प्राण, ऐश्वर्य, सभीका सुखपूर्वक त्याग कर देना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम।

५–मनुष्य-जीवनका परम ध्येय परमात्माकी प्राप्ति करना है और वह भगवत्-शरणागतिपूर्वक संसारके समस्त कर्म ईश्वरार्थ त्याग-वृत्तिसे फलासक्तिशून्य होकर करनेसे सफल हो सकता है।

६–वर्णाश्रम-धर्मका पालन करना परम कर्तव्य है।

७—माता-पिताकी सेवा पुत्रका प्रधान धर्म है। उदाहरण—श्रीराम, श्रीश्रवणकुमार।

८—स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्य परम धर्म है। उदाहरण—श्रीसीताजी।

९—पुरुषके लिये एकपत्नी-व्रतका पालन अति आवश्यक है। उदाहरण—श्रीराम।

१०—भाइयोंके लिये सर्वस्व त्याग कर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना परम कर्तव्य है। उदाहरण—श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न।

११—धर्मात्मा राजाके लिये प्राण देकर भी उसकी सेवा करना प्रजाका प्रधान कर्तव्य है। उदाहरण—(१) वनगमनके समय अयोध्याकी प्रजा, (२) लङ्काके युद्धमें वानरी प्रजाका आत्मबलिदान।

१२—अन्यायी अधर्मी राजाके अन्यायका कभी समर्थन न करना चाहिये। सगे भाई होनेपर भी उसके विरुद्ध खड़े होना धर्म है। उदाहरण—विभीषण।

१३—प्रजारञ्जनके लिये प्राण-प्रिय वस्तुका भी विसर्जन कर देना राजाका प्रधान धर्म है। उदाहरण—श्रीरामजीद्वारा सीता-त्याग।

१४—प्रजाहितके लिये यज्ञादि कर्मोंमें सर्वस्व दान दे डालना। उदाहरण—दशरथ और श्रीराम।

१५—धर्मपर अत्याचार और स्त्रीजातिपर जुल्म करनेसे बड़े-से-बड़े शक्तिशाली सम्राट्का विनाश हो जाता है। उदाहरण—रावण।

१६–मित्रके लिये प्राणतक देनेको तैयार रहना तथा उसके सभी कार्य करना। उदाहरण—श्रीराम-सुग्रीव और श्रीराम-विभीषण।

१७–निष्काम सेवा-भावसे सदा-सर्वदा भगवान्‌के दासत्वमें लगे रहना। उदाहरण—श्रीहनुमान्‌जी।

१८–सौतके पुत्रोंपर भी प्रेम करना। उदाहरण—कौशल्या, सुमित्रा।

१९–प्रतिज्ञा-पालनके लिये सगे भाईतकका उसके प्रति हृदयमें पूर्ण प्रेम रखते हुए भी त्याग कर देना। उदाहरण—श्रीरामके द्वारा लक्ष्मण-त्याग।

२०–ब्राह्मण-साधुओंका सदा दान-मानसे सत्कार करना। उदाहरण—श्रीराम।

२१–अवकाशके समय भगवच्चर्चा या सच्चिन्तन करना। उदाहरण—श्रीराम आदि भाइयोंकी बातचीत।

२२–गुरु, माता, पिता, बड़े भाई आदिके चरणोंमें नित्य प्रणाम करना।

२३–पितरोंका श्रद्धापूर्वक तर्पण-श्राद्ध करना।

२४–अन्यायका सर्वदा और सर्वथा प्रतिवाद करना। उदाहरण—लक्ष्मण।

२५–धर्मपालनके लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहन करना। उदाहरण—श्रीराम, लक्ष्मण, सीता, भरत।

२६–द्विजमात्रको नित्य ठीक समयपर सन्ध्या करनी चाहिये।

२७–सदा निर्भय रहना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम-लक्ष्मण।

२८—बहुविवाह कभी नहीं करना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम।

२९—साधु-संत महात्माओंके धर्म-कार्यकी रक्षाके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम-लक्ष्मण।

३०—अपना बुरा करनेवालेके प्रति भी अच्छा ही बर्ताव करना। उदाहरण—श्रीरामका बर्ताव कैकेयीके प्रति, श्रीवशिष्ठका बर्ताव विश्वामित्रके प्रति।

३१—स्त्रीके लिये पर-पुरुषका किसी भी अवस्थामें जान-बूझकर स्पर्श नहीं करना। उदाहरण—लङ्कामें श्रीसीताने हनूमान्‌की पीठपर चढ़कर जाना भी अस्वीकार कर दिया।

३२—पुरुषोंको पर-स्त्रीके अङ्ग नहीं देखने चाहिये। उदाहरण—लक्ष्मणजीने बरसों साथ रहनेपर भी सीताके अङ्ग नहीं देखे, इससे वे उनके गहनेतक नहीं पहचान सके।

३३—साधारण-से-साधारण जीवके साथ भी प्रेम करना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम।

३४—भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर प्रेमसे उनकी चरण-रज मस्तकपर धारण करनेसे जड भी चैतन्य हो सकता है। उदाहरण—अहल्या।

३५—बड़ोंके बीचमें अनधिकार नहीं बोलना। उदाहरण—शत्रुघ्न।

३६—नास्तिकवाद किसीका भी नहीं मानना। उदाहरण—श्रीरामने जाबालि-सरीखे ऋषि और पिताके मन्त्रीकी बात नहीं मानी।



हे राम !

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

हे शरणागतवत्सल राम ! हे दीनों और पतितोंके आश्रयदाता लोकाभिराम ! हे अपने आचरणोंसे लोकमर्यादाकी स्थापना करनेवाले सर्वाधार राम ! हम तुम्हारी शरण हैं ! प्रभो ! रक्षा करो, रक्षा करो ! हम अज्ञानी हैं, तुम्हारी 'शिव-विरिञ्चि-मोहिनी' मायामें फँस रहे हैं, हमें कर्तव्याकर्तव्यका पता नहीं है, इसीसे तुम्हें छोड़कर विषयोंके अनुरागी बन रहे हैं। नाथ ! अपनी सहज दयासे हमारी रक्षा करो।

एक बार जो शरण होकर यह कह देता है कि मैं तुम्हारी शरण हूँ, तुम उसको अभय कर देते हो यह तुम्हारा प्रण है, सच है प्रभो! हम तुम्हारी शरण नहीं हुए! नहीं तो तुम्हारे प्रणके अनुसार अबतक अभयपद पा चुके होते। परन्तु नाथ! यह भी तो तुम्हारे ही हाथ है। अब हम दीन, पतित, मार्गभ्रष्ट और निर्बल हैं और तुम दीनबन्धु, पतित-पावन, पथप्रदर्शक और निर्बलके बल हो! अब हम कहाँ जायँ, तुम्हारे सिवा हम-सरीखे पामर गरीब दीनोंको कौन आश्रय देगा? अपनी ओर देखकर ही अब तो हमें खींचकर अपने चारु चरणोंमें डाल दो। प्रभो! हमें मोक्ष नहीं चाहिये, तुम्हारा कोई धाम नहीं चाहिये, स्वर्ग या मर्त्यलोकमें कोई नाम नहीं चाहिये। हमें तो बस, तुम अपनी चरणरजमे लोट-लोटकर बेसुध होनेवाले पागल बना-दो, अपने प्रेममें ऐसे मतवाले कर दो कि लोक-परलोककी कोई सुधि ही न रहे, आँखोंपर सदा 'पावस-ऋतु' ही छायी रहे और तुम उस जलधारासे सदा अपने चरण-कमल पखरवाते रहो। प्रभो! वह दिन कब होगा जब—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(श्रीश्रीचैतन्य)

—तुम्हारा नाम लेते ही नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहने लगेगी, गद्गद होकर वाणी रुक जायगी और समस्त शरीर रोमाञ्चित हो जायगा।

विनय

हे दयासागर ! हे दीनसर्वस्व ! हे हमारे हृदयके परमधन ! हम दीन अब कहाँ जायँ ? तुम्हारे इन अभय चरणोंके सिवा और कहीं भी तो ठौर नहीं है ! बहुत भटके, बहुत धक्के खाये, बहुत देखा, पर कहीं ठौर-ठिकाना नहीं लगा ! कहीं टिककर नहीं रह सके, कहीं भी शान्ति नहीं मिली । हे पतितपावन ! अब तो तुम्हारी शरण आ पड़े हैं । शरणागतवत्सल तुम्हारा विरद है । प्रभो ! हमें अब और कुछ भी नहीं चाहिये । विद्या, बुद्धि, धन, मान, परिवार, पुत्र, पाताल, स्वर्ग किसीकी भी इच्छा नहीं है । हम योगी, ज्ञानी, तपस्वी और महात्मा नहीं बनना चाहते । तुम्हारा वैकुण्ठ, तुम्हारी मुक्ति और तुम्हारा परमधाम हमें नहीं चाहिये । हमको तो नाथ ! दयाकर तुम्हारा वह प्रेम दो जिससे अश्रु-पूर्ण-लोचन और गद्गदकण्ठ होकर निरन्तर तुम्हारा नाम-गुण-गान करते रहें, वह शक्ति दो, जिससे जन्म-जन्मान्तरमें कभी तुम्हारे चरणकमलोंकी विस्मृति एक क्षणके लिये स्वप्नमें भी न हो, तुम्हारा नाम लेते हुए आनन्दसे मरें और तुम्हारी इच्छासे जहाँ जिस योनिमें जन्में तुम्हारी ही छत्रछायामें रहें । चित्तकी वृत्तियाँ सदा बिना ही कारण तुम्हारी तरफ दौड़ती रहें और यह मस्तक तुम्हारे दासानुदासोंकी पद-पद्म-परागसे सदा ही अभिषिक्त रहे !



भगवत्-कृपा !

पुत्र-शोक-संतप्त कभी कर दारुण दुख है देती।
कभी अयश अपमान दानकर मान सभी हर लेती॥
कभी जगतके सुन्दर सुख सब छीन, दीन-मन करती।
पथभ्रांत कर कभी, कठिन व्यवहार विषम आचरती॥
पुत्र, कलत्र, राज, वैभव, बहु मान कभी है देती।
दारुण दुख, दारिद्र्य, दीनता क्षणभरमें हर लेती॥
पल-पलमें प्रत्येक दिशामें सतत कार्य है करती।
कड़वी-मीठी औषध देकर व्यथा हृदयकी हरती॥
पर वह नहीं कदापि सहज ही परिचय अपना देती।
चमक तुरत चंचल चपला-सी दृग-अंचल ढक लेती॥
जबतक इस घूँघटवालीका वदन न देखा जाता।
नाना भाँति जीव तबतक अकुलाता, कष्ट उठाता॥
जिस दिन वह आवरण दूर कर दिव्य-द्युति दिखलाती।
परिचय दे, पहचान बताकर शीतल करती छाती॥
उस दिनसे फिर सभी वस्तु परिपूर्ण दीखतीं उससे।
संसृति-हारिणि सुधावृष्टि हो रही निरंतर जिससे॥
सहज दयाकी मूर्ति देवि! तूने जबसे अपनाया।
महिमान्वित मुख-मंडल अपनेकी दिखला दी छाया॥
तबसे अभय हुआ, आकुलता मिटी प्रेमरस छलका।
मनका उतरा भार सभी, अब हृदय हो गया हलका॥
जिन विभीषिकाओंसे डरकर पहले था थर्राता।
उनमें भव्य दिव्य दर्शन कर अब प्रमुदित मुसुकाता॥
भगवत्कृपा! 'अकिंचन' तेरे ज्यों-ज्यों दर्शन पाता।
त्यों-ही-त्यों आनंद-सिंधुमें गहरा डूबा जाता॥



कामना

बना दो बुद्धिहीन भगवान !

तर्क-शक्ति सारी ही हर लो, हरो ज्ञानका मान।
हरो सभ्यता-शिक्षा-संस्कृति नव्य जगतकी शान॥
विद्या-धन-मद हरो, हरो हे हरे! सभी अभिमान।
नीति-भीतिसे पिंड छुड़ाकर करो सरलता-दान॥
नहीं चाहिये भोग योग कुछ, नहीं मान-सम्मान।
ग्राम्य गँवार बना दो, तृण सम दीन निपट निर्मान॥
भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धासे करो प्रेमका दान।
प्रेमसिंधु! निज मध्य डुबोकर मेटो नाम निशान॥



